चरित्र-नायक

(जन्म संवत् १९५०—समाधि संवत् २०२५)

पूनम का चाँद

पूनम का चाँद

स्वामीजी श्री चान्दमल जी महाराज का संक्षिप्त जीवन-वृत्त

ग्रंथकार

डॉ० पुरुषोत्तम चन्द्र जैन

एम.ए., एम.ओ.एल., पी-एच.डी.

प्रकाशक

जयध्वज प्रकाशन समिति, मद्रास

● जयध्वज प्रकाशन समिति ग्रंथमाला : पुष्पांक—सात

● ग्रंथ

पूनम का चाँद

● ग्रंथकार

डॉ. पी. सी. जैन

● प्रकाशक

जयध्वज प्रकाशन समिति, मद्रास

● प्रकाशन

वीर संवत् : २५०६

विक्रम संवत् : २०३५

ईस्वी सन् : १९७९

● आवृत्ति प्रथम

● प्रति ११००

● प्राप्ति स्थान

पूज्य श्री जयमल जैन ज्ञान भंडार,

पीपाड़ शहर, राजस्थान

● मुद्रक : निर्मल कम्पोजिंग ऐजेन्सी, ७२७ जूड़ बाग श्री-नगर देहली-३५ द्वारा मोहन प्रिंटिंग कार्पोरेशन में छपा ।

समर्पण

परम शान्तमूर्ति,
भवसागर संतरण की साकार प्रेरक स्फूर्ति,
आगम मर्मज्ञ,
आत्म-तत्त्वज्ञान के रसज्ञ,
परम श्रद्धेय, महामहिम,
आचार्य प्रवर श्री जीतमल जी महाराज,
एवम्
आगम-ज्ञान-गरिमा से गरिष्ट,
मुनिरत्न मंडल में वरिष्ट,
अध्यात्म-पथ के पथिकों में अतिशिष्ट,
आगम वक्ता, पंडित रत्न,
मुनि श्री लालचंद जी महाराज,
के
पुनीत कर कमलों में.........

जिनकी
प्रेरणा, प्ररूपणा,
प्रोत्साहन एवं पथप्रदर्शन
से ही
इस ग्रंथ का
वपन, अंकुरण,
पल्लवन और फलन
संभव हो सका है।

"पुरुषोत्तम"

अनुक्रमणिका

द्वितीय खण्ड

प्राक्कथन

जो धर्म-सम्प्रदाय अपने संतो, विद्वानों, विचारकों एवं उपदेशकों को भुला देता है, वह धीरे-धीरे अपनी शक्ति क्षीण कर लेता है। अतः किसी भी धर्म-सम्प्रदाय के मूल-प्रवर्तक की वाणी के विवेचन एवं विश्लेषण की जितनी आवश्यकता होती है, उससे कहीं अधिक हमें अपने समकालीन अथवा निकट-भूत के संतों, चिन्तकों आदि के विचारों को विवृत करने की आवश्यकता होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि समकालीन अथवा निकट-भूत में विद्यमान संत हमारी मनःस्थितियों एवं समस्याओं को अधिक गहराई से समझ लेते हैं और उन्हीं के निदान के लिये प्रवचन करते हैं। सौभाग्य का विषय है कि भारत के धर्मों में महत्वपूर्ण स्थान रखने वाले जैन धर्म के आचार्य, संत एवं अनुयायी सभी इस तथ्य से भली-भान्ति परिचित हैं। इसके प्रमाणस्वरूप, प्रस्तुत है 'पूनम का चाँद' नामक पुस्तक जिसमें स्वामीजी श्री चांदमलजी महाराज का संक्षिप्त जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक डॉ० पी० सी० जैन को न केवल ४० वर्ष से अधिक का अध्यापन-अनुभव प्राप्त है, अपितु वे ३० वर्ष के शोध-अनुभव से भी सुशोभित हैं। वे न केवल संस्कृत के अन्तर-राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त विद्वान हैं, अपितु हिन्दी और अंग्रेजी के भी निष्णात पण्डित है। प्राचीन भारतीय इतिहास पर एवं अर्थशास्त्र पर तो आपका विशेष अधिकार है। वे जैन धर्म के न केवल सिद्धान्तों के मर्म को समझते हैं, अपितु वे इनके व्यावहारिक पक्ष से भी भली-भान्ति अवगत हैं। अतः 'पूनम का चाँद' जैसी पुस्तक लिखने का महान् उत्तरदायित्व उन जैसा समर्थ व्यक्ति ही अपने कन्धों पर उठा सकता है। इससे पूर्व वे एक अन्य पुस्तक 'सर्वतोमुखी व्यक्तित्व' लिखकर न केवल जैन धर्मावलम्बियों से श्रद्धा प्राप्त कर चुके हैं, अपितु सामान्य जन और साहित्यकारो से भी सराहे गये हैं।

जीवनी-लेखन बड़ी तपस्या का कार्य है। यह कार्य तब अधिक दुष्कर हो जाता है, जब जीवनी-लेखक को अपने पात्र के जीवन की

घटनाओं का सम्यक् विवरण प्राप्त न हो और उसे खोज करनी पड़े। डॉ० जैन ने 'पूनम का चांद' के लिये ऐसा ही श्रम किया है और उनकी साधना का फल ही यह पुस्तक है।

स्वामी श्री चान्दमलजी महाराज, इस युग के महान् साधक थे, विराट् चेतना के धनी और उच्चकोटि के कलाकार थे।

डॉ० जैन प्रस्तुत पुस्तक-लेखन में अपनी प्रेरणा शक्ति के मूलस्रोत की ओर संकेत करते हुए कहते हैं 'चरित्र-नायक के गुरु भाई विद्वद्‌रत्न वर्तमान आचार्य प्रवर श्री जीतमलजी महाराज एवं उनके भ्रातृज्य शिष्य पण्डितरत्न मुनि श्री लालचन्दजी महाराज ने प्रेरणा प्रदान की'—ऐसे मुनिराज के पावन जीवन की रूप-रेखा लोक कल्याण निमित्त प्रकाश में आनी ही चाहिये।

'आचार्य प्रवर श्री जीतमलजी महाराज एव पं० रत्न मुनि श्री लालचन्दजी महाराज के योगदान के फलस्वरूप स्वामीजी चान्दमलजी महाराज सम्बन्धी, यत्र-तत्र बिखरी सामग्री प्राप्त हो सकी।'

'स्वयं श्री चान्दमलजी महाराज द्वारा यत्र-तत्र कापियों में, पन्नो में, डायरियों में लिखित पंक्तियों से तथा डाक्टर जैन की अनेक वर्षों की व्यक्तिगत पहचान से ही यह ग्रन्थ अपना आकार ग्रहण कर सका है।'

प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रेरणा के मूल स्रोत, उक्त दोनों सन्त रत्न हमारी भी हार्दिक बधाई एवं विनम्र अभिनन्दन के पात्र हैं क्योकि वे आध्यात्मिक साधना के साथ-साथ, साहित्य की समृद्धि द्वारा अपने प्राचीन महामनीषी आचार्यों की परम्परा को और उनकी भावना को साकार एवं अक्षुण्ण बनाने की साधना में भी समान रूप से निरत है।

प्रस्तुत ग्रन्थ दो खण्डों में विभाजित किया है। प्रथम खण्ड है—'जन्म से दीक्षा' इसमें चरित्र-नायक के वंश की, माता-पिता, घरेलू परिस्थितियों, जैन सन्तों से सम्पर्क आदि की चर्चा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का दूसरा खण्ड है—'गुरु-शरण से समाधि-संसरण,' जिसमें शास्त्र अध्ययन, पंचमहाव्रत-पालन, धर्म-प्रचार, पाच प्रवचनों का सार आदि की चर्चा है।

'स्वामी चान्दमलजी महाराज' डाक्टर जैन के अनुसार, 'सुकुमार शरीर, सुकुमार भावना, सुकुमार व्यवहार, सुकुमार आचार और

सुकुमार विचार से सम्पन्न थे, अर्थात्—एक कलाकार में अपेक्षित सभी गुण उनमें प्रचुर संख्या में उपलब्ध थे। स्वामी चान्दमल जी कलाकार इस अर्थ में थे कि उन्होंने अक्षरों के सौन्दर्य की साधना की। उनके अक्षर इतने सुन्दर, आकर्षक और आकृति से समतल और सन्तुलित हैं कि आजकल के छापे के अक्षर भी उनके सामने शोभाहीन प्रतीत होते हैं।'

डाक्टर पी. सी. जैन की शैली एकदम निजी है—जो गद्य में काव्य का-सा रस प्रदान करने की शक्ति से सम्पन्न है। उपयुक्त विशेषणों के प्रयोग से और सटीक शब्दावली के व्यवहार से पुस्तक की भाषा न केवल प्रसाद गुण से सम्पन्न है अपितु अनेक शब्द-अर्थ-अलंकारों के सौरभ से भी सुरभित है।

अन्त में मेरी भगवान् से यह करबद्ध प्रार्थना है कि वह, डाक्टर पी. सी. जैन को उत्तम स्वास्थ्य और दीर्घायु दे जिससे वे मां सरस्वती के वरद करकमलों में अधिकाधिक शोध-सौरभ-सम्पन्न-पुस्तक-प्रसून अर्पण कर सके। वे एक ओर धार्मिकवृत्ति के लोगों के लिये 'पूनम का चांद' जैसी रचनाएं प्रस्तुत करें, तो दूसरी ओर शुद्ध साहित्यिक प्रेमियों के लिये।

1. 'Labour in Ancient India' [from Vedic Age up'to the Gupta period]

2 *Socio-Economic Exploration of Mediaeval India (800 to 1300 A D.)*

जैसे ग्रन्थरत्नों का प्रणयन करते रहें।

२१, अप्रैल, १९७९
एम. डी. विश्वविद्यालय,
रोहतक।

हेमराज निर्मम,
एम. ए., पी-एच. डी.

अवतरणिका

इस धरातल पर कितने ही महर्षि, महात्मा, मुनि और साधक हो गये हैं जिन्होंने साधना की व्यग्रता के कारण, ध्यान की समग्रता के कारण, शास्त्रज्ञान की दुर्ग्राह्यता के कारण, चित्तवृत्तियों के निरोध के लिये मन की एकाग्रता के कारण और स्वानुभूति को प्रधानता प्रदान करने के कारण किसी ग्रन्थ का निर्माण तो नहीं किया किन्तु स्वयं की अनुभूति को, स्वयं के संयमी जीवन को, स्वयं के आदर्श सदाचार को, परोपकार को, स्वयं के पावन विचार-प्रचार को और स्वयं सन्मार्ग पर चलकर लोक में उसके संचार को ही एक अनुकरणीय एवं आचरणीय आदर्श पुस्तक के रूप में जन-जन के समक्ष प्रस्तुत किया। ऐसी कितनी ही विभूतियां अतीत में इस लोक में आईं और अपने आदर्श जीवन की अनुभूतियों के सौरभ से लोक को युग-युग में सुरभित करके इस ब्रह्माण्ड खंड में अन्तर्धान हो गईं। ऐसी ही इस युग की एक महान् विभूति जैन मुनिराज श्री चान्दमलजी महाराज थे। वे अनेक भाषाओं के, आगमों के, विविध शास्त्रों के मनीषी होते हुए भी अपनी आध्यात्मिक साधना में इतने संलग्न थे, मग्न थे, विलीन थे, और तल्लीन थे कि वे किसी मौलिक ग्रंथ की रचना के लिये समय ही नहीं निकाल पाये। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे साहित्य के संसार का कोई उपकार ही नहीं करने पाये। वे उच्चकोटि के कलाकार थे—"लिपि-संस्कार" के। उनकी लिपि छापाखाना के अक्षरों का उपहास करती प्रतीत होती है। उसमें आभास है और विकास है—वास्तविकता का—तथा सन्यास है—असौन्दर्य का। उन्होंने उस मनोहारिणी, आश्चर्यकारिणी और नयनानन्दसंचारिणी लिपि में बत्तीस अक्षरों की एक लाख पंक्तियां लिखी हैं। उनका सारा जीवन आध्यात्मिक साधना एवं लिपि लावण्य प्रदान के प्रयत्न में ही व्यतीत हुआ। वे इस युग के एक महान् साधक थे, विराट् चेतना के धनी थे, और उच्च कोटि के कलाकार थे। "ऐसे मुनिराज के पावन जीवन की रूप-रेखा लोक कल्याण निमित्त प्रकाश में आनी ही चाहिए"

यह भावना उनके गुरु भाई, विद्वद्रत्न, वर्तमान आचार्य प्रवर श्री जीतमलजी महाराज एवं उनके भ्रातृज शिष्य, पंडित-रत्न मुनि श्री लालचन्दजी महाराज के मन में जागृत हुई जिसका परिणाम 'पूनम का चांद' शीर्षक यह ग्रंथ पाठकों के और श्रद्धालु श्रावकों के समक्ष प्रस्तुत है।

किसी भी प्रकार के साहित्य के अभाव में केवल मात्र स्मृति पटल पर अंकित चरित्रनायक के गुणों को, विशेषताओं को, और जीवन से सम्बन्धित घटनाओं को ग्रंथ का रूप देना कोई खाला जी का घर नहीं था किन्तु वर्तमान आचार्य-प्रवर श्री जीतमलजी महाराज एवं मुनिराज श्री लालचन्द जी महाराज के निरंतर योगदान से, यत्र-तत्र बिखरी घटनाओं के आदान-प्रदान के समाधान से, उनके द्वारा सुनाई गई चरित्र नायक की चारित्र-चारुता के प्रचुर ज्ञान से, स्वयं चरित्र-नायक द्वारा यत्र-तत्र कापियों में, पन्नों मे और डायरियों में लिखी गई पक्तियों के भान से और मेरी व्यक्तिगत कई वर्ष की पहचान से ही इस ग्रथ की रचना सम्भव हो सकी है। उक्त दोनो सम्मान्य सन्तों को यदि मैं 'पूनम का चांद' की ही दो कलाएं कह दूं तो अतिशयोक्ति नही होगी। परम शान्तमूर्ति, ज्ञानवृद्ध एवं वयोवृद्ध आचार्य प्रवर श्री जीतमलजी महाराज एवं आगम विशेषज्ञ पंडित रत्न श्री लालचन्द्र जी महाराज को भी मैं स्वामीजी श्री चांदमलजी महाराज के समान ही वर्तमान युग की दो विभूतियां समझता हूं। ये दोनो सतात्माएं वीर धर्म के प्रचार में, सत्य के संचार में, साहित्य प्रसार में और सच्चे साधु धर्म के आचार में दिवानिश निरत है। इस सत्य से मैं तो भलीभांति परिचित हूं ही किन्तु जो स्वधर्मी श्रावक उनके संपर्क में आते रहते हैं, वे भी इस सत्य की सार्थकता को अच्छी तरह जानते हैं। इन्ही दोनों संतरत्नों की प्रेरणा से ग्रथित एवं प्रकाशित गुलदस्ते का यह ग्रंथ भी एक सुमन बनेगा।

यह ग्रथ दो खंडों में विभक्त है :

१. जन्म से दीक्षा,

२. गुरु शरण से समाधि-संसरण।

प्रथम खंड में चरित्रात्मक के वंश की, माता-पिता की, घरेलू परिस्थितियों की, जैन संतों के सम्पर्क में आने वाली घटनाओं की

और चरित्रनायक के संस्कारों की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है।

दूसरे खंड में चरित्रनायक के शास्त्र-अध्ययन का, पंचमहाव्रत पालन का, धर्म के प्रचार का, पांच प्रवचनों के सार का और समाधि मरण का संक्षिप्त विवरण है। उन्होंने अपने साधु जीवन में प्रवचन तो अनेक दिये थे किन्तु लिपिबद्ध न होने के कारण उन सबका विवरण देना संभव नहीं था। केवल मात्र पांच प्रवचनों के नोट हमें इधर-उधर बिखरे मिल सके जिनके आधार पर हम उनके पांच प्रवचन ही दे पाये हैं। इन पांच प्रवचनों के संकलन में उनके सुयोग्य, कर्मठ अध्यवसायी एवं विद्वान् सन्त मुनि श्री पार्श्वचंद जी महाराज के योगदान की हम हार्दिक श्लाघा करते हैं। "एक सुयोग्य शिष्य का अपने धर्म गुरु के प्रति क्या कर्तव्य होता है" इस तथ्य को वे भलीभांति जानते हैं। अपने गुरुदेव की अन्तिम क्षणों में की गई उनके द्वारा गुरु सेवा अविस्मरणीय रहेगी। चरित्रनायक के ही प्रधान सुशिष्य मुनि श्री शुभचन्दजी महाराज का इस पुनीत कार्य में शुभचिन्तन, श्री नूतन मुनि जी का नूतनोद्धरण प्रकरणगवेषणचातुर्य, श्री गुणवन्त मुनि जी की साहित्यसामग्री व्यवस्थापन-उपस्थापन-तत्परता एवं कर्मठता और श्री भद्रिक मुनि जी की भद्रिकता—सभी अपने-अपने स्थान में प्रार्थनीय, प्रशंसनीय एवं आचरणीय रहे हैं। इन सभी होनहार सन्तों से हम जिनशासन की समृद्धि के लिए महान् आशाएं रखते हैं।

अन्त में स्वर्गीय दानवीर सेठ श्रीमान् मांगीलाल जी गोटावत के सुपुत्र सेठ श्रीमान् माणकलाल जी गोटावत और उनके सुपुत्र चिरंजीवी श्री कुशलचन्द जी गोटावत का भी हार्दिक धन्यवाद किये बिना नहीं रह सकता जिन्होंने 'गोटावत-भवन' में मेरे निवासादि की समीचीन व्यवस्था करके इस ग्रंथ के लेखन में महान् सहयोग प्रदान किया।

१६-२-१९७९
गोटावत भवन,
सोजत सिटी

नम्र निवेदक :
पुरुषोत्तम चन्द्र जैन

लिपिचित्र-परिचय

(१)

किशोर केलि : बारह वर्ष की अवस्था में वैरागीपने में किशोर केलि करते हुए स्वामी जी के हस्ताक्षर।

(२)

स्तोत्रादि पत्र का अन्तिम पृष्ठ : दीक्षा-ग्रहण करने के बाद दूसरे ही वर्ष में स्वामी जी द्वारा लिखित शास्त्रीय लिपि की प्रतिलिपि।

(३)

स्तवन पत्र का अन्तिम पृष्ठ : दीक्षा ग्रहण करने के छः वर्ष बाद विक्रम संवत् १९७१ में स्वामीजी द्वारा लिखित अपने गुरुवर्य स्वामी जी श्री नथमल जी महाराज द्वारा विरचित स्तवनों का संग्रह।

(४)

निशीथ सूत्र की हूंडी का अन्तिम पृष्ठ : दीक्षा लेने के ग्यारह वर्ष बाद विक्रम संवत् १९७६ में स्वामीजी के शास्त्रीय हस्ताक्षर।

(५)

अपकर्ष पत्र का प्रथम एवं अन्तिम पृष्ठ: विक्रम संवत् १९८२ में लिखित स्वामी जी के शास्त्रीय हस्ताक्षर।

(६)

स्याद्वाद मंजरी का अन्तिम पृष्ठ : विक्रम संवत् १९८३-८४ के मध्य स्वामी जी द्वारा वर्तमान पंडित मुनि श्री लालचंद जी महाराज के लिये लिखित।

(७—क)

उत्तराध्ययन, हरिकेशीयाध्ययन, खरतरगच्छीय कमलसंयमोपाध्याय विरचित सर्वार्थसिद्धि नामक टीका : विक्रम संवत् २००१ में

वर्तमान आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी महाराज के लिये स्वामीजी द्वारा लिखित।

(७—ख)

वीरस्तुति सटीक, अन्तिम पृष्ठ : विक्रम संवत् २००१ में स्वामी जी द्वारा लिखित।

(८)

मंत्रावलि पत्र का तेरहवां पृष्ठ।

पूनम का चाँद

(स्वामीजी श्री चान्दमलजी महाराज का संक्षिप्त जीवन-वृत्त)

स्मरण

मनो विलीनं जिनपादपद्मे,
वचोऽनुरक्तं सुगुरुस्तुतौ च।
गात्रं च सत्कर्मणि यस्य लग्नं,
स्मराम्यहं चन्द्रमुनीश्वरन्तम् ॥

श्रोत्रं पवित्रं श्रुतसंश्रुतेन,
सिद्धस्तवेन प्रयता रसज्ञा।
यस्यासवोऽर्हत्स्मरणेन पूताः,
स्मराम्यहं चन्द्रमुनीश्वरन्तम् ॥

—आचार्य प्रवर श्रीजीतमलजी महाराज

जिनका मन सदा जिनेन्द्र भगवान् के चरण-कमलों में रमण किया करता था, वाणी सुयोग्य गुरु के स्तवन में रत रहती थी, शरीर जिनका सत्कर्मों में प्रवृत्त रहता था, ऐसे मुनिराज श्री चान्दमलजी महाराज का मैं स्मरण करता हू ।

जिनकी श्रवणेन्द्रिय आगम-श्रवण से पावन बन गई थी, जिनकी जिह्वा सिद्धों की स्तुति में लीन रहती थी, जिनके प्राण अर्हत्स्मरण से पवित्र हो गये थे, ऐसे मुनिराज श्री चान्दमलजी महाराज का मैं स्मरण करता हूं ।

वन्दन

दयापरागो नयणारविंदे,
सच्चस्स एवं वयणारविंदे।
विण्णामयं जस्स करारविंदे,
वंदामि चंदं मुणिणिंदचंदं ॥

अकिचणं जस्स मणोरविंदे,
चरियासुहा से पयारविंदे ।
अमंदमाणंदमाणोववाई ,
वंदामि चंदं मुणिविंदवंदं ।।

सज्झायसीलो सज्झाणसीलो,
जो ओसहीसो भविकम्मरोगे ।
सोगंधयारे सुहसुज्झकंती,
वंदामि चंदं मुणिविंदवंदं ।।

सव्वंसहो जो उवसंतभावा,
उज्जुत्तणा सुद्धमणो सुसाहू ।
अगव्विओ जो सुगुणागुणेहिं,
वंदामि चंदं मुणिविंदवंदं ।।

कलाहरो जो कुमुए सुसीसे,
इलाधरो जो नियसाहणाए ।।
खंतो य संतो य दंतो महंतो,
वंदामि चंदं मुणिविंदवंदं ।।

—पंडित-रत्न मुनि श्री लालचन्दजी महाराज

जिनके कमल-नयन दया के पराग से परिपूर्ण थे, जिनका मुखारविंद सत्य से पावन था, और जिनके हस्त-कमल दानामृत से युक्त थे, ऐसे—मुनिवृन्द द्वारा वन्दित—मुनि श्री चान्दमलजी महाराज को मैं वन्दना करता हूं । जिनका मन-कमल सर्वथा परिग्रहहीन था, जिनके चरणारविन्द विहार रूपी अमृत से सिक्त थे और स्वयं असीम आनन्द के धनी होने के कारण सम्पर्क में आने वाले सब प्राणियों को आनन्द देने वाले थे, ऐसे—मुनिवृन्द द्वारा वंदित—मुनि श्री चान्दमलजी महाराज को मैं वन्दना करता हूं ।

जो स्वाध्यायशील थे, सदा शुभध्यान में रमण करने वाले थे, जो कर्म के रोगियों का रोग मिटाने के लिये औषधियों के स्वामी

साक्षात् चन्द्रमा के समान थे और जो शोक रूपी अंधकार में भी सुख की किरणें फैलाने वाले थे, ऐसे—मुनिवृन्द द्वारा वंदित—मुनि श्री चान्दमलजी महाराज को मैं वन्दना करता हूं।

जो बड़ी शान्त भावना से सब प्रकार के परीषहों को सहन करने वाले थे, जो मानसिक पवित्रता के कारण सरल स्वभाव के साधु थे, जो दुर्गुणों के अभाव से एवं सद्गुणों के सद्भाव से सदा गर्वहीन रहते थे, ऐसे—मुनिवृन्द द्वारा वन्दित—मुनि श्री चान्दमलजी महाराज को मैं वन्दना करता हूं।

जो अपने कुमुद तुल्य शिष्यों को सदा कलाधर—चन्द्रमा के समान विकसित—प्रसन्न रखने वाले थे, जो अपनी साधना में पर्वत के समान दृढ़ थे, जो महान् शमनशील थे, दमनशील थे और शान्त स्वभाव के थे, ऐसे मुनिवृन्द द्वारा वन्दित—मुनि श्री चान्दमलजी महाराज को मैं वन्दना करता हूं।

१

जन्म से दीक्षा

शरणं करवाणि शर्मदं, ते चरणं वाणि ! चराचरोपजीव्यम् ।
करुणामसृणैः कटाक्षपातैः, कुरु मामम्ब ! कृतार्थसार्थवाहम् ॥
(शार्ङ्गधर पद्धति)

मैं (पुरुषोत्तमचन्द्र नाम का ग्रन्थकार) स्थावर-जंगम, सभी प्रकार की सृष्टि द्वारा वन्दित, कल्याण प्रदान करने वाले आपके पावन चरणों की शरण में आया हूँ। अपने करुणा से स्निग्ध दृष्टिपात से, हे माते ज्ञानेश्वरी ! मुझ संसार-यात्री को कृतार्थ ('पूनम का चाँद' शीर्षक ग्रन्थ की रचना में सफल) करने की अनुकम्पा करना।

उत्थानिका

अनादिकाल से मरुधर के धराधाम में अक्षुण्ण रूप से प्रवहमान, परम पावन ज्ञान गंगा के एक विपुल-सौरभ-सम्पन्न सुमन थे—सेवा-भावी, संयमी, सम्यग्-ज्ञानी, सन्त चान्दमल जी महाराज, जो अपनी ज्ञान-चारित्र की सुरभि से सुरभित कर गये जन-जन के मानस को। या फिर यों कहिये कि वे विपुलदुःखदाहदग्ध धरा के अधार्मिक-समाज को शीतल करने आये थे—अपनी पीयूषमयी करुणा की किरणों की शीतलता से। परमार्थ के रहस्य को, सांसारिक विषयों के अवनति-शील विपाक को, ऐन्द्रिय विषयों की क्षणिक लोलुपता को, कार्मण परिणाम की विषमता को एवं अनादिकाल से जन्म-जरा-मरण की शृंखला में बंधे जीव की विवेक-शून्यता को भली भान्ति विशिष्ट विवेक

द्वारा समझ कर ही निकल पड़ी थी कलेवर से चान्दमल नाम धारी एक महान् सन्तात्मा, निर्जरा की पगडंडी पर, मोक्ष के मार्ग पर और कैवल्य के कल्याणमय, ज्ञानमय, आनन्दमय, सत्यमय, शिवमय और सौन्दर्यमय पथ पर।

सौर जगत् की इस धरित्री पर असंख्य जीव अब तक पुण्य-परिणामोपलब्ध और इसी कारण दुर्लभ मानव योनि में जन्म ले चुके हैं। उनमें अधिकाधिक ऐसे थे, जिन्होंने मानव-योनि की महानता को कभी समझने का प्रयत्न ही नही किया। वे जैसे इस संसार में आये थे वैसे ही परलोक में वापिस नही लौटे किन्तु कर्मों की और पापों की भारी गठरियां सिर पर लाद कर संसार-सागर में डूब गये। कहते हैं यह पृथ्वी पापियों के नहीं किन्तु पुण्यात्माओं के बल पर स्थित है। मानव-योनि में कुछ जीव ऐसे भी आये जो जग गये घोर अज्ञान की निद्रा से और समझ गये मानवता के मान्य माप-दण्ड को और मानव की अमरता के रहस्य को, जीव की जड़ों की गहराई को और स्व-स्वरूप की स्थिरता की सचाई को। सासारिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्रों में वे छोड़ गये अपने व्यक्तित्व की छाप, जिसका रग अमिट है, जिसे मिट्टी धूमिल नही बना सकती, सूर्य जला नही सकता, वायु जर्जरित नही कर सकता और काल कवलित नहीं कर सकता। जीवों की जीवन-साधना की वह छाप अनन्त काल तक पूर्ववत् बनी रहेगी, अनुप्राणित करती रहेगी विवेकशील आगामी पीढियों के जीवों को, जागृत करती रहेगी अज्ञानान्धकार से आवृत आत्माओं को, सचेत करती रहेगी जगत् की अतृप्त वासनाओं के बहाव मे बहने वाले बाहीकों को, तरगायित करती रहेगी नवागन्तुक बटोहियों को, सन्मार्ग पर चलने के लिये।

भव्य जीवों ने अपने व्यक्तित्व की छाप को अनेक रूपों में अभिव्यक्ति दी है। ग्रन्थकार के रूप में, आचार-विचार की सहिताकार के रूप में, अक्षर-संस्कार के रूप में, लिपिकार के रूप में, चित्रकार के रूप में, मूर्तिकार के रूप में, धर्म प्रचार के कर्णधार के रूप में, आध्यात्मिक ज्ञान के सूत्रधार के रूप में, तत्व-ज्ञान के प्रसार के रूप में, असत्य के परिहार और सत्य के आविष्कार के रूप में, वास्तुकला के कलाकार के रूप में, और आत्म-ज्ञान के परिष्कार के रूप में मानव देह में प्रबुद्ध जीव अपने व्यक्तित्व की छाप को या जीवन की साधना

के प्रकार को विविध रूपों में जगतीतल पर अंकित कर जाते हैं। यह छाप मूक होकर भी बहुत कुछ बोलती है। अच्छे संस्कारों वाले एवं सत्संगति में रहने वाले प्रतिभाशील जिज्ञासु मानव उसके गम्भीर अर्थ का मनन करके उसकी गहराई तक पहुंच तत्व-ज्ञान को ग्रहण करके ऊर्ध्वमुखी बन जाते हैं और जिन आत्माओं पर अज्ञान का आवरण छाया है वे अपनी अधोमुखी प्रवृत्ति का त्याग नहीं कर पाते और परिणामस्वरूप उत्तरोत्तर जन्म-मरण के चक्र में अनिर्वचनीय यातनाएं भोगते रहते हैं।

इस वसुन्धरा पर अवतरित होने वाले उपर्युक्त अतीत के अनेक कलाकारों में से स्वामी जी श्री चान्दमल जी महाराज भी एक प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार थे—सांस्कृतिक क्षेत्र में, धार्मिक क्षेत्र में, आध्यात्मिक क्षेत्र में और तत्व-ज्ञान के प्रसार के क्षेत्र में। कलाकार का हृदय अत्यन्त कोमल, भावुक, पावन एवं प्रसादमय होता है। स्वामी चान्दमल जी महाराज ने पूर्वजन्मार्जित पुण्य के प्रताप से ऐसा ही हृदय पाया था। उनकी सहज प्रकृति ही कोमलतामयी थी। उनके शरीर में, वस्त्रों में, मन में, वाणी में सर्वत्र कोमलता का साम्राज्य था। वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक चरण में कोमलता देखते थे और कोमलता ही पाते थे। सत्यं और शिवं का सम्यक् रूप से सम्मान करते हुए भी वे सुन्दर के पक्षपाती इसलिये थे कि सुन्दर कोमलता की आधारशिला है। कोमलता का संस्कार पूर्वजन्मार्जित था इसके विषय में तो कुछ निश्चित कहा नहीं जा सकता किन्तु इस जन्म का पैतृक संस्कार वह निश्चित रूप से था। स्वामीजी का जन्म राजस्थान की 'फूलमाली' नाम की जाति में हुआ था। फूलमाली नाम से ही यह स्पष्ट सुगन्धि आ रही है कि स्वामीजी के पूर्वज और माता-पिता स्वयं फूलों की खेती करके फूलमालायें बनाने का काम करते थे। बड़ी सावधानता की आवश्यकता होती है फूलों की खेती करने में; उससे भी कहीं अधिक सावधानता की आवश्यकता है फूलों की मालाओं का निर्माण करने में। कोमल फूलों को तन्तु में पिरोने के लिये सुकुमार हृदय और सुकुमार अंगुलियां चाहियें। दिवानिश फूलों के सम्पर्क से कठोर हृदय और कर्कश अंगुलियों का भी सुकुमार बन जाना असम्भव नहीं। स्वामी चान्दमल जी महाराज के तो पीढ़ी-दर-पीढ़ी के वंशजों में प्रवहमान रक्त में ही कोमलता के कण विद्यमान

के। ऐसी स्थिति में स्वामी चान्दमलजी महाराज के रक्त में कोमलता का होना और रक्त-जन्य कोमलता का तन, मन और प्रकृति में परि-व्याप्त हो जाना न तो अस्वाभाविक ही है और न ही अतिशयोक्ति-पूर्ण ही।

जन्म भूमि की अवस्थिति

राजस्थान के पाली जिले में कर्मों की निर्जरा से परिमार्जित निःश्रेयस् के पथ के समान, एक साफ सुथरी, कंटक, कंकर और गर्त-विहीन सड़क, जिसके दोनों ओर नीम के वृक्ष अपनी घनी छाया से उसे शीतल-सुखमय बनाते हैं और जिनकी आरोग्यप्रद सुरभित पवन पथिकों को विश्रान्ति, स्वास्थ्य और नवजीवन प्रदान करती है, पीप-लिया गांव को एक किनारे पर छोड़कर ऐसी आगे बढ़ जाती है जैसे कोई संसार के प्रति कूटस्थ सन्तात्मा संसार के तुच्छ प्रलोभनों की उपेक्षा करके अबाधगति से आध्यात्मिक मार्ग पर मस्ती से आगे बढ़ता रहता है। पीपलिया गांव के मोड़ पर रुकने वाली बस से उतरने वाले कतिपय पथिक ठीक ऐसे ही प्रतीत होते है जैसे मोक्ष मार्ग से भटके सम्भ्रान्त राही अपने लक्ष्य की अन्तिम मंजिल पर न पहुँच कर बीच में ही उन्मुख हो जाते हैं संसार की वक्र पगडडी पर। पीपलिया गांव के दूसरी ओर कुछ अन्तराल पर रेलगाड़ी भकभक धुआ निकालती हुई तीव्र गति से ऐसे निकल जाती है जैसे सासारिक घोर पाप कर्मों की निर्जरा करती हुई कोई मुमुक्षु आत्मा मोक्ष पथ पर अबाधगति से आगे बढ़ती जाती है।

धर्मपरायण फूलमाली दम्पती

इसी पीपलिया गांव में रहता था फूलमाली जाति का जगमाल नामका माली और पारी नाम की सुशीला एवं धर्मपरायणा उसकी पत्नी। दोनों का दाम्पत्य जीवन अत्यन्त सम्पन्न, शान्तिमय एवं सुख-मय था। मानव विधान के अनुसार :

> सन्तुष्टो भार्यया भर्ता, भर्त्रा भार्या तथैव च।
> यस्मिन्नेव कुले नित्यं, कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥
>
> — मनु०, ३, ६०

अर्थात्-जहां पति अपनी पत्नी से सन्तुष्ट रहता है और पत्नी अपने पति से सन्तुष्ट रहती है उस कुल में सर्वदा, सार्वकालिक आनन्द रहता है। यह प्राचीन कथन जगमाल और पारी दम्पती पर अक्षरशः घटित होता था। जगमाल नाम से ही यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसके खेत में फूलों की वार्षिक इतनी उपज थी कि वह जगत् के बड़े भाग को फूलों की मालाएं प्रदान कर सकता था। जगमाल जैसे सम्पन्न, सुयोग्य एवं धर्मनिष्ठ पति को पाकर पारी प्रसन्नता के अपार पारावार को पार कर रही थी। तंवर (तोमर) गोत्रीय माली जाति के अतिरिक्त पीपलिया गांव में ब्राह्मण, ठाकुर, ओसवाल और निम्न-वर्ग की सभी जातियों के लोग निवास करते थे। जगमाल की फूलों से फूली फसल को देखकर सबके मन में स्पर्धा तो होती थी किन्तु ईर्ष्या नहीं। उसके भाग्य की और पुण्य की सभी सराहना करते थे। वह वास्तव में सराहना के योग्य भी था। दोनों पति-पत्नी श्रमण सन्तों के परम भक्त थे। प्राय. जैन सन्तों का उस गांव में पदार्पण होता रहता था। जब भी वहां जैन सन्त आते वे उनका परम सम्मान करते और उनके धार्मिक प्रवचनों को सुनते, मनन करते तथा उन्हें अपने जीवन में उतारने का भरसक प्रयत्न करते थे। इस दम्पती का हरदेवा नाम का एक सुपुत्र था जो माता-पिता का परम भक्त था। वह फूलों की खेतीबाड़ी में अग्रसर होकर माता-पिता की सहायता करता था।

दंपती का संलाप

एक दिन पति-पत्नी में प्रसंगवश संलाप हो रहा था। जगमाल ने कहा, "प्रिये ! हमारा पुत्र हरदेवा हमारे पारिवारिक धन्धे में सब प्रकार से अतिनिपुण है। फूलों की खेतीबाड़ी में जितनी सावधानी, निपुणता और परिश्रम अपेक्षित है, वह सब प्रकार से उसमें कुशल हो गया है। अब हमें और किस बात की आवश्यकता है ? प्रभु की कृपा से सब कुछ हमें उपलब्ध है। कितने भाग्यवान् हैं हम। अब कौनसी ऐसी इच्छा है जिसे पूर्ण करने की हमें आवश्यकता है ? सभी कुछ तो है हमारे पास।"

अपने परमप्रिय प्राणनाथ की बात सुनकर पारी बोली :

"यह सांसारिक सुखों की उपलब्धि की बात तो आपकी सत्य है किन्तु आत्मोद्धार के लिये जिस पूंजी की आवश्यकता है, उसका अर्जन

हमने अब तक कहां किया है । इतने बार जैन सन्तों के प्रवचन सुनकर क्या आप पर कुछ भी रंग नहीं चढ़ा ? जैन मुनिराज उस दिन अपने प्रवचन में कह रहे थे कि बिना तपश्चर्या के कर्मों की निर्जरा संभव नहीं है और बिना कर्मनिर्जरा के जन्म, जरा और मृत्यु से मुक्ति नहीं मिल सकती । सांसारिक उपलब्धियों में डूबा हुआ जीव जन्म-जन्मान्तर में अनेक प्रकार की नारकीय यातनाओं का शिकार बनता है । उस आत्म-कल्याण करने वाली पूंजी का संग्रह हमने कब किया है । बिना उसके हमारा जीव अनेक योनियों में जन्म लेता हुआ अनन्तकाल तक दुःख-सागर में गोते खाता रहेगा । मानव योनि में जन्म लेना तो तभी सफल है यदि हम तपश्चर्या द्वारा पूर्वाजित और इहलोकाजित कर्मों का क्षय करके मोक्षपथ के अनुगामी बने । इसके बिना जन्म-मरण के बन्धन कटने सम्भव नहीं हैं ।"

पारी पर जैन सन्तों के प्रवचनों का रंग भलीभान्ति चढ चुका था । उसकी सारगर्भित एव आत्मकल्याणकारिणी वाणी का जगमाल पर गहरा प्रभाव पड़ा । उत्तर में वह पत्नी को सम्बोधित कर कहने लगा :

"बात तो तुम्हारी लाख रुपये की है और मेरे मन में जंच गई है । मानव-जन्म की सफलता इसी बात में है, जो तुमने बताई है, किन्तु अब हम धर्म के मर्म की उस प्रक्रिया को जीवन में कैसे उतारे, इस पर भी तो कुछ प्रकाश डालो । हमारे लिये शिक्षा, दीक्षा और भिक्षा— तीनों अत्यन्त कठिन है । इस आयु में साधु मार्ग को अपनाने के लिये बड़े उत्कट साहस की आवश्यकता होती है जिसका सद्भाव हमारे लिये सम्भव नहीं है । कोई और उपाय तुम्हारी समझ मे आता है तो व्यक्त करो ।"

प्रत्युत्तर में पारी पति से कहने लगी :

"यदि कोई दीक्षित होना चाहे तो तुम 'नही' तो नहीं करोगे । अड़चन तो नही डालोगे ? प्रतिज्ञा करो कि तुम अपने वचनों का पालन करोगे । नहीं करोगे तो यह धर्म के विरुद्ध आचरण होगा ।"

जगमाल ने कहा :

"मुझे तुम्हारी बात स्वीकार है किन्तु हरदेवा को दीक्षित होने की आज्ञा मैं नहीं दे सकता । हां, अब हमारे घर में यदि दूसरा पुत्र

जन्म लेता है तो उसे मैं बड़ी प्रसन्नता से दीक्षित होने की आज्ञा दे दूंगा। निःसन्देह वह पुत्र अपने कुल को तथा अपनी आत्मा को तपश्चर्या द्वारा उज्ज्वल बनायेगा। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं कि मैं अपने इन वचनों से तथा दृढ़ निश्चय से विमुख नहीं होऊंगा।"

ऐसा कह कर जगमाल मौन हो गया। धारी पति की धर्मभावना और वचन निर्वाह के प्रति दृढ़निश्चय जानकर मन ही मन फूली न समाती थी। पति ने उसे आगे कुछ भी कहने की गुंजाइश नहीं छोड़ी थी। वह भी मौन हो गई। उसका मौन आत्मिक, मानसिक प्रसन्नता एवं तृप्ति का प्रतीक था। इस प्रसंग के पश्चात् दोनों अपने-अपने दैनिक कार्य में निरत हो गये।

नूतन जीवाधान

समय के रथ की गति कभी रुकी नही। उसके पहिये तीव्र गति से आगे बढ़ने के लिये ही घूमा करते हैं। ठीक इसी प्रकार मानव का भाग्यचक्र भी जीवन पथ पर निरन्तर आगे ही बढ़ता है। उस भाग्य-चक्र का कभी ऊपर की ओर और कभी नीचे की ओर चला जाना तो उसकी गति की प्रक्रिया है। पहिया ऊंचाई और निचाई की चिन्ता नही करता, उसका काम तो चलना है। सांसारिक जीवन का निर्माण करने वाला जीव भी तो जन्म, जरा और मृत्यु के मार्ग पर निरन्तर चलता ही रहता है। किसी प्राचीन ऋषि ने जीव को चलने की प्रेरणा देते हुए कहा है .

"चरैवेति चरैवेति।"

अर्थात्—अय जीव ! तू अबाध गति से चलता जा चलता जा।

कब तक चलता जा, जीवन की अन्तिम घडी तक चलता जा। अन्तिम घड़ी की सीमा सौ वर्ष तक निश्चित की है। ईशावास्योपनिषद् में एक महर्षि कहते हैं :

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत शरदः शतम्।"

अर्थात्—हे प्रभो ! हम कर्म करते हुए सौ शरद् ऋतुओं को देखने के लिये जीने की इच्छा करते हैं। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि कर्मशील, गतिशील या चलता हुआ मानव ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखे, जो निष्कर्मण्य है, उसे दीर्घायु प्राप्त करने की आवश्यकता ही क्या है ? गीता का—

"योगः कर्मसु कौशलम् ।"

अर्थात्—सच्चा योगी वही है जो कर्म करने में कुशल है—पद्यांश भी इसी विचार धारा का समर्थक है। इस दृष्टि से जममाल और पारी का कर्मशील जोड़ा किसी योगी से कम नहीं था। उनके गृहस्थ का रथ गतिशील था, वह आगे बढ़ रहा था। उसके पहिये बड़े शक्तिशाली थे और पहियों से भी अधिक शक्तिशाली थे उस रथ को खींचने वाले उनके जीव। रथ आगे बढ़ रहा था, घड़ियां प्रहरों में, प्रहर दिन-रातों में और दिनरात सप्ताहों, पक्षों और मासों में परिवर्तित होते जा रहे थे। समय बीत रहा था और अपने चिन्ह की रेखाएं पीछे छोडता जा रहा था। पारी के शरीर पर नवीन गर्भ के चिन्ह प्रकट होने लगे थे। या यों कहिये कि गृहस्थ जीवन के रथ के पहियों की ये रेखाएं थी। जगमाल को भी नवजीवन के अंकुरों के प्रस्फुटन को समझने में देरी नही लगी। उसने हंसते हुए कहा, "पारी! बधाई-बधाई, कितने पुण्यवान हैं हम। हमारी कोई भी इच्छा अपूर्ण नही रही। जो तुम चाहती थी वही होगा, ऐसा प्रतीत होता है। बोलो आज इस खुशी में क्या मिष्ठान्न खिलाओगी?"

पारी लज्जा से नतमुख हो मुस्करा दी और कहने लगी, "जो मिष्ठान्न आप कहेगे वही प्रस्तुत कर दिया जायेगा। यह सब गुरुओ के आशीर्वाद का परिणाम है। जैन सन्तों के प्रवचन सुनने से, उनका मनन करने से और उन्हे जीवन में उतारने से सब अच्छा ही होता है और भविष्य में अच्छा ही होगा। ऐसी मेरी अटूट श्रद्धा है और दृढ विश्वास है। महाराज अपने प्रवचन में एक बार कह रहे थे कि जो धर्म में श्रद्धा रखता है वह शुभ कर्म करता है और शुभ कर्म ही बान्धता है। जैसा बीज होगा वैसा ही वृक्ष होगा। बीज यदि रुग्ण है तो वृक्ष भी रुग्ण होगा। बीज स्वस्थ है तो वृक्ष भी स्वस्थ एवं चिर-स्थायी होगा। ठीक वैसे ही विचार का बीज भी होता है। विचार यदि स्वस्थ है और निर्विकार है तो तज्जन्य-आचार भी स्वस्थ और विकारहीन होगा। विवेक को विचार की आधारशिला बना ली जाये तो विचार में पावनता आ जाती है। पावन विचार, पावन आचार को ही जन्म देता है। पावन आचार से शुभ कर्मों का उदय होगा और शुभ कर्मों के उदय से मानव-जन्म सफल, धन्य और कृतार्थ बनेगा।" कितना सारगर्भित उपदेश दिया था महाराज साहब ने उस दिन। तो

मैं तो यही समझती हूं कि तुम्हारी जो धर्म में निष्ठा है उसी शुभनिष्ठा का यह शुभ परिणाम है।"

इस प्रकार पारस्परिक हित की, धर्म की, कल्याण की, परिवार की, सहचार की और सदाचार की बातें करते-करते दोनों निद्रालु हो गये और अन्धकार की कोमल छाया में सो गये निद्रा की गोद में। प्रातःकाल हुआ दोनों समय पर जगे। पत्नी ने पतिमुख के दर्शन किये और चरण स्पर्श किया। शास्त्र का विधान है कि गर्भवती भार्या को प्रातः जगकर सर्वप्रथम पतिमुख के ही दर्शन करने चाहियें, इससे गर्भस्थ शिशु के शरीर-निर्माण के समय पिता की आकृति ज्यों की त्यों बालक के कलेवर मे उतर आती है। जगमाल प्रातराश करके अपने फूलों के खेत मे चल दिया और पारी अपने गृहकार्यों में जुट गई। जबसे पारी के गर्भ में नया जीव आया था तब से न जाने क्यों उसके मस्तिष्क में श्रेष्ठ भावों की सृष्टि हो रही थी। जगमाल का मन भी आनन्द की हिलोरें ले रहा था। इस से यही समझना चाहिये कि यह सब आने वाले जीव के ही पुण्य का प्रताप था।

धर्म-रंग-रंजिकाः सखी कुसुंबा

जगमाल के पडौस में एक ओसवाल (वैश्य) जैन श्रावक का घर था। इस सम्पन्न घर की स्वामिनी कुसुम्बा बाई का सारा परिवार ही धर्मपरायण था। कुसुम्बा बाई में धर्म की लगन विशिष्ट रूप में विद्यमान थी। जब कभी जैन सन्त अथवा सतिया ग्राम की भूमि को अपने चरण रज से पवित्र करते तो वह उनसे धर्मध्यान का लाभ पूर्ण रूप से उठाती थी। उनके प्रवचनों को सुनना, उनका मनन करना और उन्हें क्रियान्वित करना उसका सहज स्वभाव बन गया था। उनकी अनुपस्थिति में भी वह उनके द्वारा निर्दिष्ट धार्मिक क्रियाओं का सचाई से पालन करती थी। जो भी स्त्रियां या पुरुष उसके सम्पर्क में आते उन्हें भी वह धर्म की प्रेरणा देती और धार्मिक जीवन में रंगने का प्रयत्न करती। सौभाग्य से पारी भी कुसुम्बा के सम्पर्क में ही विशेष रूप से रहती थी और उसी के रंग में रंग गई थी।

चिर प्रतीक्षा के बाद

ग्रीष्म ऋतु का अन्तिम चरण समाप्त हो चुका था और वर्षा ऋतु के श्री गणेश का सन्देश आकाशमण्डल में मण्डराने वाले मेघ गर्जन की

ध्वनि में घोषित कर रहे थे। ग्रीष्म ऋतु की असह्य आतप से संतप्त धरणी चिरकाल से वर्षा ऋतु के बादलों की प्रतीक्षा में आकाशमण्डल की ओर अपनी आंखें बिछा रही थी। ग्रीष्म ऋतु की दाह ने किसानों के तन और मन ही दग्ध नहीं कर दिये थे किन्तु उनके धन के साधन खेतों को भी झुलस डाला था। सब शीतलता की बाट जोह रहे थे। किसान पत्नियों ने वर्षा ऋतु के स्वागत में सम्मिलित स्वरों में सावन के गीत गाने आरम्भ कर दिये थे। जो सताता है, तपाता है, झुलसाता है और नसाता है उसका कौन स्वागत करता है, उसके कौन गीत गाता है और उसकी कौन प्रतीक्षा करता है? जो नवजीवन प्रदान द्वारा तन और मन में शान्ति का संचार करता है, ससार का उद्धार करता है, जीवन की आपत्तियों का सहार करता है, आहार के अभाव का परिहार करता है और धूलि धूसरित ससार का परिष्कार करता है उसकी प्रतीक्षा में असंख्य निर्निमेष आंख टकटकी लगा कर देखा करती हैं, उसे दसों दिशाओं में ढूंढा करती हैं, उसकी अनुपस्थिति मे बैचेन हो जाती हैं। उसे निहार कर मुग्ध हो जाती हैं, शान्त हो जाती हैं, तृप्त हो जाती हैं और सन्तुष्ट हो जाती हैं।

पहले आकाशमण्डल में सजल बादलों का अन्धकार, फिर बून्दा-बान्दी, तत्पश्चात् धारामयी वर्षा और अन्त में मूसलाधार वर्षा जम कर बरसी। इस प्रथम वृष्टि ने ही जन-जन के मानस में व्याप्त निदाघ की तपस ऐसे ही शान्त कर दी जैसे ऐन्द्रिय-सुखों के परिणामों से सन्तप्त जीव की तपस ज्ञान की चरम सीमा पर पहुच कर शान्त हो जाती है। एक दो सप्ताहो में ही नवजीवन पाकर वनभूमियां, खेतों की क्यारियां और ग्राम प्रान्त आवृत हो गये—नवजन्तुओं से, नव-वनस्पतियों से और बालतृणो के अकुरों से। जीवों की उत्पत्ति ऋतु-कालीन थी। नवजात वनस्पतियों को किसी ने बोया नहीं था किन्तु इनके बीज सो रहे थे मूर्च्छावस्था मे धरित्री के गर्भ में। आवश्यकता थी—केवल जल की, जीवन की, जिसे पाकर सब जाग गये, अंकुरित हो गये और पल्लवित हो गये। ठीक ऐसे ही जैसे जीव के ज्ञान-तन्तु अज्ञान की तपस से मुर्झा कर सुप्तावस्था में स्थित रहते हैं एवं ज्ञान की शीतलता से अज्ञान की तपस शान्त हो जाती है तो ज्ञान तन्तु सहज रूप में अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित अवस्था में पहुंच कर जीव को स्वस्थिति या मोक्ष में पहुंचा देते हैं।

[illegible]

दूर देशों में कार्यवश यात्रा करने वाले पथिकों के मार्ग बन्द हो गये थे मार्ग के नदी-नालों की बाढ़ से, किन्तु किसानों के खेतों की पगडंडियां और शकट-पथ पूर्ववत खुले थे निर्बाध गमनागमन के लिये। इन पगडंडियों पर किसान बालाएं, परिणीत नवयुवतियां, प्रौढ़ाएं और सशक्त वृद्धाएं चल पड़ी थीं—अपने खेतों की ओर हाथों में लम्बी डंडी की कुदालियां, खुरपियां और दातियां लिये खेतों को नाणनें के लिये। सम्मिलित स्वरों में उनके वर्षा ऋतु के सजीव एवं मधुर गीतों से गुंजरित हो रहा था—दिङ्मंडल और आकाशमंडल। इन कृषक मण्डलियों में एक मण्डली पारी की भी थी। पारी की एक सहेली पारी पर व्यंग्य कसते हुए बोली, "पारी ! मेरे तो खेत में फूलों की सुगन्धि आ रही है, तेरे तो अन्दर से फूल की सुगन्ध आ रही है।' सब सहेलियां खिलखिला कर अट्टहास करने लगी। पारी शर्मा गई। "*अरे ! शर्माती क्यों है, क्या इत्र और प्रेम की सुगन्धि किसी से* छिपाये छिपती है। तू चाहे लाख प्रयत्न कर, वह सुगन्धि ओढ़नें के आंचल मे बान्धकर रोकी नहीं जा सकती।" दूसरी ने व्यंजना-भरी वाणी में पारी को छेड़ा। पुनः सब खिलखिलाकर हंसने लगी। "अरे हां, पारी के हाथों मे खेत निनाणने के उपकरण हैं ही नही, फिर यह खेत कैसे निनाणेगी ? शायद अपने मन की खुशी के नशे में निनाण के उपकरण घर पर ही भूल आई है।" तीसरी ने ताना कसा। एक ही अंगुली, सितार के तार को झंकृत करने में पर्याप्त होती है, यहां तो अनेक अंगुलियां पारी पर तन रही थी। आखिर उसे अपना मौन खोलने के लिए विवश होना पड़ा। कहने लगी, "तुम्हारा अनुमान सत्य है। यह सुगन्धि तो नारी की परिपूर्णता की द्योतक है। नारी का नारीत्व इस सुगन्धि में ही निहित है। बाकी रही बात निनाण के उपकरण न लाने की, वह तो सकारण है। मैं वास्तव में खेत को निनाणने नहीं आई हूं किन्तु वर्षा ऋतु के वरदान स्वरूप आई खेतों की हरियाली को, शोभा को और छटा को देखने आई हूं।"

"अभी तो गर्भावस्था को कतिपय मास ही बीते हैं, अभी से इतनी सुकुमारता और निष्कर्मण्यता, कुछ बात समझ में नही आई। इस कालू किसान की बीनणी को देखो, आठवें मास में भी निनाण के लिये कटि-

बद्ध होकर आई है।" जमना बाई ने उत्कंठापूर्ण स्वर में कारण जानना चाहा।

"परसों ही की तो बात है रत्तू की बहू खेत से घर में आई ही थी कि उसने एक बालक को जन्म दे दिया।" गंगा ने जमना की बात का समर्थन करते हुए कहा।

"नहीं, मेरे निनाण न करने का सम्बन्ध मेरी गर्भावस्था से नहीं है किन्तु धर्म से है। जैन सन्तों ने अपने प्रवचन में कहा था कि वनस्पति में भी जीव होते हैं। उन्हें उखाड़ने का अर्थ है कि उन्हें जीवन से वंचित कर देना, और फिर वनस्पति को उखाड़ते समय पृथ्वी में फैले हुए अनेक जीव जन्तुओं की भी तो हत्या हो जाती है। यह हिंसा है, इस से पाप लगता है, निकृष्ट कर्मों का आस्रव होता है और आत्म-कल्याण का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इसलिये मानव को, जहा तक सम्भव हो सके, हिंसा के मार्ग से दूर ही रहना चाहिये। मैंने केवल इस बार ही नही किन्तु अपने भावी जीवन के लिये भी अपने फूलों के खेत मे निनाण न करने का नियम ले लिया है। नियम लेने से मनोबल का विकास होता है और आत्मिक शक्ति समुन्नत होती है, इसलिये उसका पालन करना मेरा परम धर्म है।" सबकी बातों का समाधान करते हुए पारी ने बड़ी ही मधुर एवं सारगर्भित वाणी मे सबकी बातों का, प्रश्नों का और व्यग्यों का सामाधान किया।

"अरे, पारी अपनी पड़ोसन कुसुम्बा वनियाणी के जो निरन्तर सम्पर्क मे रहती है, प्रभाव मे आ गई है। वह बड़ा धर्म कर्म करने का ढोंग रचाती है। सेठ सूद पर पैसा देने का धन्धा करता है। दश को सौ बना देना और सौ को हजार बना देना उसके बाएं हाथ का खेल है। एक बिन्दी और टिकाने की कला में वह बड़ा सिद्धहस्त है। हराम की कमाई आती है। तभी तो खाली बैठी बनियाणी को ज्ञान की बाते बनानी आती है। बैठी-बैठी दुम्बे की तरह फूल रही है। अपने शरीर का भार भी ढोना भार बन रहा है। हमारी तरह खेती करके पेट भरना पड़े तो नानी याद आ जाये, सारी चर्बी दो दिन में ही ठिकाने लग जाये। खेती करने से पाप लगता है। दस का सौ बनाकर भोले-भाले किसानों को ठग लेना, उन्हें धोखा देना क्या पाप नहीं है, हिंसा नही है और दुष्कर्म नहीं है? कृषि-कर्म से बढ़कर ससार में कोई उत्तम कर्म नही है। तभी तो लोक में कहावत है :

उत्तम खेती, मध्यम बान,
निषिद्ध चाकरी, भीख, निदान।

अर्थात् जीवन यापन के साधनों में खेती करने का धन्धा सबसे उत्तम, व्यापार से धन कमाना मध्यम, नौकरी करके पेट भरना निषिद्ध और भीख मांगकर खाना तो अत्यन्त निकृष्ट है।

किसान सहज स्वभाव से ही भोला होता है। वह हेराफेरी नहीं जानता। किसी को धोखा देना उसके रक्त में नहीं है काले बाजार की काली करतूत से वह सर्वथा अनभिज्ञ है। तस्करी नाम की चिड़िया का उसे तनिक भी ज्ञान नहीं है। उसका परिग्रह सीमित है। वह केवल एक ही बात जानता है, वह है—'खून पसीना बहाकर श्रम करना।' भयानक गर्मी में, मूसलाधार बरसात में, तीखी सर्दी में और कभी-कभी तो तीव्र ज्वर की अवस्था में भी वह खेत में काम करता दृष्टिगोचर होता है। उसकी कमाई खून-पसीने की कमाई है, हक की कमाई है, *किसान की कमाई को पूंजीपति-वर्ग उपेक्षा की दृष्टि से देखता है,* अनादर का व्यवहार उससे करता है, उसे धोखा देता है, उसका अनाज सस्ता खरीद कर उसे बाजार में मंहगा बेचता है और अधिक से अधिक उसका शोषण करने में तत्पर रहता है। जिन्होंने खेती के महत्व को समझा नहीं है, वे ही खेती में हिंसा की बात करते हैं और खेती की निन्दा करते हैं। खेती में यदि दश प्रतिशत हिंसा होती भी है तो नब्बे प्रतिशत पुण्य भी तो होता है। किसान के द्वारा पैदा किये अन्न से ही तो संसार के प्राणी पलते हैं। गांव में ही देखलो, जब फसल आती है तो नाई, जुलाहे, कुम्हार, लुहार, बढ़ई, चमार, तेली आदि सब जातियों के लोग खलिहानों पर पहुंच कर किसान से ही अनाज लेकर जीवन का निर्वाह करते हैं। जंगली जानवर एवं आकाश-गामी पक्षी भी तो खेती की फसल पर निर्वाह करते हैं फिर भला कृषिकर्म कैसे त्याज्य हो सकता है?"

कस्तूरी ने अपने विस्तृत, सारगर्भित एवं युक्तियुक्त बखान में सबको प्रभावित करते हुए कहा।

"कृषि भी सब धन्धों में उत्तम है" यह सिद्धान्त हजारों वर्ष पूर्व आर्य-जाति में जन्म ले चुका था। सम्भवतः कस्तूरी की धारणा उसी परम्परागत भावना या मान्यता की एक कड़ी थी। ऋग्वेद के एक

ऋषि ने द्यूत (जुआ) में रमने वाले एक नवयुवक को सम्बोधन करके कहा था :

> **अक्षैर्मा दीव्य:कृषिमित् कृषस्व, वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः।**
> **तत्र गावः कितव तत्र जाया, तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः॥**
> **ऋग्०, १०,३४,१३**

"अय जूआ खेलने वाले युवक ! तू जूए का त्याग कर। इसमें कुछ नहीं रखा है, यह तो हानिकारक है। इसके स्थान पर तू कृषि-कर्म किया कर। यदि तू कृषि को बहुमान्यता देगा तो उससे तुझे पत्नी भी मिलेगी, पशु धन भी मिलेगा और तू धन-धान्य की समृद्धि में रमण करेगा।"

निःसन्देह कृषि-कर्म की मान्यता की उत्तमता में सन्देह नहीं किया जा सकता परन्तु मान्यताओं की आधार शिला मानव की चिन्तन-धारा है जो अनादिकाल से अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रवाहों में बहती चली आ रही है। मानव विधि-विधान के विशेषज्ञ मनु महाराज की वैधानिक विचारधारा के अनुसार कृषि-कर्म को इसलिये निकृष्ट माना गया है कि जब किसान खेत में हल चलाता है तो हल की तीखी फाल से अनेक जीव जन्तुओं की हत्या होती है। मनु-महाराज ने इस हिंसा से बचने के लिये द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य) को यही परामर्श दिया है कि वे यथासम्भव हिंसा-प्रधान कृषि-कर्म का त्याग करे। मनु का कथन है :

> **सा वृत्तिः सद्-विगर्हिता।**
> **भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्टमयोमुखम्॥ १०-८४**

निष्कर्ष रूप में कृषि-कर्म उत्तम है अथवा जघन्य है इसका समाधान तो अनेकान्त दर्शन द्वारा ही सम्भव है। संसार की सब वस्तुएं अपेक्षा की दृष्टि से अच्छी भी हैं और बुरी भी हैं। धन-धान्य के लाभ की दृष्टि से खेती उत्तम भी है और हिंसा की दृष्टि से खेती त्याज्य भी है। इस दृष्टि से पारी की धारणा भी सत्य थी और कस्तूरी की मान्यता भी परिहार के योग्य नही थी।

गर्भ पोषण

इस प्रकार मार्ग में संलाप करती हुई किसान नारियों की टोलियां अपने-अपने खेतों में गई, और निनाण (अनावश्यक एवं बलात् फसल

में उगे हुए घास, छोटे-छोटे पौधे और लताएं जो वास्तविक पौधे या पौधों को पृथ्वी के रसका शोषण करके हानि पहुंचाते हैं—उन्हें उखाड़ कर फेंक देना) करने लगीं। पारी ने अपनी फूलों की फसल में निनाण नहीं किया, उसके खेत का निनाण जगमाल और हरदेवा कर रहे थे। पारी तो बैठकर मात्र फूलों की फसल के सौन्दर्य का पान कर रही थी। पारी का मन इतना प्रसन्न कभी नहीं रहा जितना अब रहता था। आजकल की जीव सम्बन्धी वैज्ञानिक गवेषणा के अनुसार गर्भस्थ जीव की भावनाएं माता की भावनाओं के रूप में अभिव्यक्त होती हैं। इसी प्रकार माता की चिन्तन-धारा और आचार-विचार का प्रभाव भी गर्भस्थ जीव पर पड़ता है। सम्भवतः पारी की अतिप्रसन्नता का कारण गर्भस्थ जीव के पूर्व पुण्यार्जित संस्कारों का ही प्रभाव हो, यह बात रहस्यात्मक है, इसे निर्णयात्मक रूप में व्यक्त नहीं किया जा सकता।

जगमाल के फूलों के खेत में फूलों की कलियां फूल की पूर्ण अवस्था को प्राप्त करने के लिये मन्द गति से विकासशील थीं और पारी के गर्भस्थ जीव के अंग-प्रत्यंग भी उत्तरोत्तर प्रगति की ओर बढ़ रहे थे। जैसे-जैसे फूलों की फसल पकती जा रही थी वैसे-वैसे खेत का काम काज हलका पडता जा रहा था किन्तु पारी के शरीर का भार, भारी होता जा रहा था। उधर खेत के फूल पूर्ण रूप से खिलने की स्थिति में थे और इधर पारी के फूल के खिलने की अवस्था भी पूर्णता तक पहुंचने वाली थी।

पूनम का अनोखा प्रातः

पूर्णिमा का प्रातःकाल था। जगमाल की योजना के अनुसार आज के दिन महती संख्या में फूलों को तोड़ा जाना था। जगमाल कतिपय अन्य सहायक मालियों को साथ लेकर खेत में पहुंचा। फूलों को डंडियों या नालों से तोड़ा जानें लगा। जिस नाल की फूल शोभा बढ़ा रहे थे और जिससे जीवन पाकर मुस्करा रहे थे वे उस नाल से अब कभी भी नहीं जुड़ सकेंगे। उनका अपनी जन्मदात्री नाल से सार्वकालिक सम्बन्ध विच्छेद वैसे ही हो गया जैसे मुक्तात्मा का कर्मक्षय से सांसारिक सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। अन्तर केवल इतना ही था कि फूल इस सम्बन्ध विच्छेद से दुखी थे और इस कारण मुरझाने लगे थे किन्तु

मुक्तात्मा सांसारिक सम्बन्ध विच्छेद से प्रसन्न होती है और स्वस्थिति के आनन्द में खो जाती है। कुछ पौधों पर कलियां अवशिष्ट थीं, वे अभी विकास की स्थिति में नहीं आई थीं। वे कबीर के शब्दों में इस कारण दुखी थीं :

माली आवत देखकर कलियां करत पुकार।
फूले-फूले चुन लिये काल हमारी बार॥

अर्थात्—माली को देखकर कलियां इस कारण चिन्ता में डूब रही थी कि जो फूल बन चुकी थीं उनको तो नालों से तोड़ा जा रहा है, कल हम भी जब फूल के रूप में परिणत हो जायेंगी तो हमारी भी यही दशा होगी। ससार में पाप की गठरियां बान्धने वाले जीव भी जब किसी मृतक को देखते हैं तो उनके मन में भी संसार की असारता के प्रति और अपने अन्धकार-पूर्ण भावी जीवन के प्रति भयावह भावनायें उत्पन्न होने लगती है।

जन्म

सम्वत् १९५० मे आसौज की पूर्णिमा की रात्रि के द्वितीय प्रहर में जगमाल माली की धर्मपत्नी पारी ने एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। खेत के फूल टूटकर मुर्झा गये थे किन्तु यह फूल टूटकर विकसित हो गया। सबसे आश्चर्य भरी बात यह थी कि शिशु जन्म लेते ही प्रायः रोया करता है किन्तु जगमाल का यह शिशु पहले मुस्कराया और फिर रोया। इस घटना को अपवाद ही कहना चाहिये। सम्भवतः वह मुस्कराया इसलिये कि उसे गर्भ की यातना से मुक्ति मिली और रोया इसलिये कि उसके जन्म-मरण का चक्र अभी समाप्त नहीं हुआ और उसके कर्मों की राशि का अभी बहुत बड़ा भाग क्षय होना बाकी है। बालक की कान्ति, चन्द्रमा के समान कान्त थी। ऐसा प्रतीत होता था कि पूर्णिमा का चान्द अपनी कौमुदी का कुछ अंश इस बालक में रखकर ही आगामी दिन से घटना चाहता था। या फिर यों कहिये कि चन्द्रमा अगले दिन से इसलिये घटना आरम्भ हो गया था कि उसकी चान्दनी को इस बालक ने छीन लिया था। संक्षेप में शिशु का चान्द जैसा बदन, विशालभाल, गौरवर्ण, तीखे नख-शिख, सर्वांगों की क्रमबद्ध-पूर्णता, कोमल-कान्त-कलेवर, कमनीय और आकर्षक कान्ति, सौभाग्य द्योतक शुभ लक्षणों की सर्वांगीणता, सामुद्रिक शास्त्र एवं अंग-विद्या

निर्धारित कुण्डली की यथार्थता एवं परिपक्वता, पूर्वजन्मार्जित पुण्यों की प्रामाणिकता, वर्तमान जीवन की सफलता और भावी जीवन की परमार्थता के चिन्ह ऐसे थे जो दर्शकों के मन को मुग्ध करने वाले थे। ब्राह्मणों के, जाटों के, वैश्यों के, मालियों के अन्य सभी गांव के मुहल्लों के नर-नारी जगमाल और पारी के घर बधाई के सन्देश लेकर आने लगे। गांव के लोग नगर के परिवारों के और लोगों के समान स्वकेन्द्रित नहीं होते, समय आने पर वे सभी जाति-पाति, गोत्र और न्यात के भेद-भाव को भूलकर एक दूसरे के सुख-दुख में हाथ बंटाते हैं। एक दूसरे के दुःख में दुखी हो जाना एवं सुख में सुखी होना—यह उनका जन्मजात संस्कार होता है।

नाम करण

स्थानीय ग्राम ज्योतिषी को हरदेवा बुला लाया। ग्राम ज्योतिषी पंडित यद्यपि ज्योतिष् शास्त्र का कोई निष्णात पण्डित नहीं था किन्तु मुहूर्त, लग्न, ग्रह-दशा और जन्मकुण्डली निर्माण की विद्या में वह भली भान्ति दक्ष था। उसने बालक की जन्म कुण्डली बनाई और जगमाल से कहा, बुरा नही मानना, मैं अपनी ओर से कुछ नहीं कहूंगा, मैं तो वही कहूंगा जो ग्रहों की चाल भविष्यवाणी कर रही है। यद्यपि इस बालक के जीवन में माता-पिता की सेवा करनें की सम्भावना कम है किन्तु यह बालक होनहार है, यह भविष्य में एक महान् विद्वान्, उत्कृष्ट तपस्वी और ख्याति प्राप्त कलाकार होगा। इसकी जन्म कुण्डली में यद्यपि कुछ ऐसे ग्रह पड़े हुए हैं जो हानिकारक हैं किन्तु केन्द्र मे बृहस्पति बैठा है इस कारण उनका कोई प्रभाव नही पड़ेगा। ज्योतिष् शास्त्र के अनुसार :

किं कुर्वन्ति ग्रहाः सर्वे यदि केन्द्रे बृहस्पतिः।

अर्थात्—यदि केन्द्र में बृहस्पति पड़ा हो तो दूसरे ग्रह कोई हानि नही पहुंचा सकते।

जन्म कुण्डली की ग्रह-दशा के अनुसार शिशु का नाम 'च' पर पड़ता था परन्तु माता-पिता ने अभी उसका कोई भी नाम रखने का विचार स्थगित कर दिया। वे उसे 'चोला' अर्थात् छोटा कहकर पुकारने लगे। प्राकृत के चुल्ल (छोटे के अर्थ में) का अपभ्रंश रूप 'चोला' बन गया ऐसा प्रतीत होता है। कृष्ण-पक्ष में चन्द्रमा की

कलाएं उत्तरोत्तर कम होती जा रही थीं किन्तु चोला का मानवीय चोला समय की वृद्धि के साथ बढ़ता आ रहा था। शुक्ल-पक्ष का चन्द्रमा अन्धकार की ओर बढ़ रहा था और चोला का जीव प्रकाश की ओर। आध्यात्मिक सिद्धांत के अनुसार ठीक इसी प्रकार पुण्य-क्षय के पश्चात् जीव अन्धकार—नारकीय जीवन की ओर बढ़ता है और पुण्योदय से प्रकाश—आत्म-कल्याण की ओर। शारीरिक शुभ लक्षणो से यह बात स्पष्ट थी कि चोला ने मानव का शरीर आत्म-कल्याण के लिये ही प्राप्त किया था। मानव योनि में जन्म लेना शास्त्रकारों ने बड़ा ही दुर्लभ बताया है :

दुल्लहे खलु माणुसे भवे।

उत्तराध्ययन, १०,४

अर्थात्—मनुष्य योनि, जीव के लिये बड़ी ही दुर्लभ है। अनेक जन्मों की परम्परा मे जो जीव शुद्धि की ओर प्रगतिशील रहते हैं या उत्तरोत्तर शुद्धतर होते जाते हैं वे ही मानवयोनि में जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त करते है। इसी भाव को आगमकार ने निम्नलिखित गाथा में व्यक्त किया है .

जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सय।

उत्तराध्ययन, ७।१६

अर्थात्—संसार में आत्माएं अनेक योनियों में क्रमश शुद्ध होती हुई मनुष्य भव को प्राप्त करती हैं।

आनन्द विभोर दम्पती

चोले का जीव निश्चित रूप से पूर्व भवों में शुद्ध होता आ रहा था, यह उसकी मानवयोनि में जन्म से प्रमाणित था। माता-पिता चोले का बड़े प्यार, ममता और स्नेह से पालन पोषण करने लगे। वे बालक का सौन्दर्य, सुस्वभाव और सौम्य आकृति देखकर फूले न समाते थे। कोई चित्रकार जब हमारा चित्र बनाकर हमें देता है तो हम उसे बार-बार देखते हैं और मन ही मन बड़े प्रसन्न होते हैं। पुत्र तो माता-पिता का जीवित चित्र है। उसमें माता-पिता का रक्त, हड्डियां, संस्कार, आकृतियों की झलक, बचपन और युवावस्था सभी

कुछ तो स्वाभाविक है; फिर भला माता-पिता को देखकर आनन्द-विभोर क्यों न हों ? एक प्राचीन ऋषि ने तो यहां तक लिखा है :

"तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः ।"

जिस प्रकार कैमरे के सामने चित्र खिचवाने के लिये जो बैठता है उसी का तो चित्र आता है, चित्रकार जिसको सामने बैठाकर तूलिका और रंगों से चित्र का निर्माण करता है उसीका तो चित्र पटल पर अंकित होता है, ठीक इसी प्रकार पत्नी (जाया) कैमरा या पटल है। पति स्वयं जाया के माध्यम से पुत्र रूप में उत्पन्न होता है। इसलिये वैदिक संस्कृति में माताएं दो प्रकार की मानी गई हैं—एक तो वह जो जन्म देती है और दूसरी वह जिसमें पति पुत्र रूप में पुनः जन्म ग्रहण करता है। जाया का जायात्व इसी में है कि वह पति को जन्म दे। जब से चोला पैदा हुआ था तब से जगमाल (जिसे लोग जग्गो कह कर भी पुकारते थे) के घर की सुख-सम्पत्ति, प्रसन्नता और शुभ समाचारों की वृद्धि हो रही थी। माता-पिता इसे बालक के ही पुण्य का प्रताप समझते थे। बालक के गले में व्याघ्र नख, मंत्रपूत तावीज और गाल पर काला टीका इसलिये लगाकर रखते थे कि उसे कोई नजर न लगादे, परन्तु काले टीके से चोले का सौन्दर्य कम होने वाला कहां था। चन्द्रमा में लगा हुआ कलंक उसके सौन्दर्य को और अधिक बढ़ा देता है। पहले झूले मे झूलना, फिर बैठना, तत्पश्चात् घुटनों के बल चलना, सहारा लेकर खड़े हो जाना, फिर अपनी शक्ति से चलना आदि सारी प्रक्रियाओं को बालक पार करता आ रहा था। पहले तुतली वाणी में मा, बापू, तत्पश्चात् तीन, चार, पांच अक्षरों के उच्चारण मे भी वह निपुण होता जा रहा था। अगाध वात्सल्य के कारण माता-पिता उसकी सभी विकास की शारीरिक क्रियाओं को देखकर फूले न समाते थे। फूले समायें भी कैसे ? प्राचीन विद्वानों ने अपनी अनुभूति ही को तो अभिव्यक्ति दी है :

इदं तत् स्नेहसर्वस्वं, सममाढ्यदरिद्रयोः।
अचन्दनमनौशीरं, हृदयस्यानुलेपनम् ॥

मृच्छकटिकम्, १०।१३

गृहे जानुचरः केल्या मुग्धस्मितमुखाम्बुजः ।
पुत्रः पुण्यवतामेव पात्री भवति नेत्रयोः ॥

कुमारसंभवम्, १६।१५

किं मृष्टं सुतवचनं, मृष्टतरं किं तदेव सुतवचनम् ।
मृष्टान्मृष्टतमं किं, श्रुतिपरिपक्वं तदेव सुतवचनम् ॥

शार्ङ्गधर पद्धति, १००९

अर्थात्—माता-पिता चाहे धनाढ्य हों चाहे निर्धन, उनके स्नेह का एक मात्र पात्र और सर्वस्व उनका पुत्र होता है । चन्दन न होते हुए भी वह उनके हृदयों को शान्ति प्रदान करने वाला अनुलेपन है ।

घर में घुटनों के बल रेंगता हुआ और क्रीड़ा में मस्ती भरी और भोली मुस्कराहट से विकसित कमल जैसे मुखवाला पुत्र किन्हीं पुण्यवान माता-पिताओं के नेत्रों का ही पात्र बनता है ।

यदि पूछा जाये कि संसार में मधुर वस्तु कौनसी है, तो इसका उत्तर होगा शिशु की मधुर वाणी, यदि पूछा जाये कि मृष्टतर—अर्थात् और अधिकतर मीठी वस्तु कौनसी है तो उसका उत्तर भी यही होगा कि शिशु की मधुर वचन रचना, और यदि पूछा जाये कि सबसे अधिक मधुर वस्तु कौनसी है तो उसका उत्तर भी कानों के प्यारे लगने वाले शिशु के वचन ही कहा जायेगा ।

कभी चोले को नहलाना, कभी खिलाना, कभी वस्त्र पहनाना कभी उसके साथ मधुर बातें करना, कभी उसके साथ विनोद करना, कभी रूठे हुए को मनाना और कभी उसके कुतूहलपूर्ण प्रश्नों का उत्तर देना आदि-आदि चोले की पालन पोषण और शिक्षण की बातों में पारी इतनी व्यग्र रहती थी कि उसको घर के कामों की भी उपेक्षा करनी पड़ती थी । ऐसे अवसरों पर जगमाल और हरदेवा उसके घर के कामों में हाथ बंटाते थे ।

प्रतीक्षा

चोले ने छह वर्ष की आयु व्यतीत कर अब सातवें वर्ष में चरण रख दिये थे । चार सदस्यों का यह छोटा सा परिवार बड़े सुखसे, आनन्द से, सन्तोष से और खूब खुशी से अपने जीवन की घड़ियां यापन कर रहा था । गांव के लोग माली जगमाल के आनन्दमय

जीवन पर स्पर्धा करते थे और प्रायः कहा करते थे कि चोले के जन्म ने जगमाल और पारी के जीवन की कायापलट ही कर दी है। पारी ने कहा :

"बेटे चोले ! अब तो तू दिनोंदिन बड़ा होता जा रहा है—आयु में भी और समझदारी में भी किन्तु तेरे पिता की और मेरी आयु ढलती जा रही है। तू बड़ा होकर हमारी सेवा करेगा न ?"

चोला चुप रहा, उसने न स्वीकृति में और न निषेध में उत्तर दिया।

"बेटा ! चुप क्यों रह गया, क्या तू हमारी सेवा नहीं करेगा; देखो, हरदेवा हमारी कितनी सेवा करता है। खेत में अपने पिता के साथ काम करता है और घर के कामकाज में मेरे साथ हाथ बंटाता है। तू भी ऐसा ही सेवाभावी बेटा बनेगा न ?"

चोला फिर मौन रहा। जगमाल को और पारी को चोले के मौन पर कोई आश्चर्य नहीं हुआ क्योंकि वे बालक के भावी रहस्यमय जीवन को भलीभान्ति जानते थे, अपनी प्रतिज्ञा को भूले नहीं थे और अपने कर्तव्यों को पहचानते थे। यद्यपि चोले जैसे सुन्दर, सौम्य, प्रतिभावान परमप्रिय और विनम्र सुपुत्र का आकर्षण महान था किन्तु माता-पिता की आत्म-कल्याण-कारिणी एवं निजवंशयशःप्रसारिणी भावना पुत्र मोह से भी महत्तर थी। वे उचित समय की प्रतीक्षा कर रहे थे किन्तु समय उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। किसकी प्रतीक्षा पूर्ण होगी, इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता था, किन्तु 'समय बलवान है'—इस उक्ति की कभी भी कोई उपेक्षा नहीं कर सका है। समय भी द्रुतगति से आगे बढ़ रहा था और जगमाल तथा पारी की आशाएं और भावनाएं भी कम गतिमान नहीं थीं। मानवमन की सभी इच्छाएं और अभिलाषाएं कभी पूर्ण नहीं होतीं।

"मेरे मन कछु और है विधि के मन कछु और।"

भवितव्यता को आज तक कोई भी सन्त, महन्त और ज्ञानवन्त नहीं टाल सके हैं। होनहार तो होकर ही रहती है। तभी तो किसी विवेकशील ने कहा है :

न हि भवति यन्न भाव्यं,
भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन।

करतलगतमपि नश्यति,
यस्य तु भवितव्यता नास्ति ।।

भर्तृहरिसुभाषितसंग्रहः, ११९

अर्थात्—जो घटना नही घटनी है, वह कभी नहीं घटती, जिसे घटित होना है, वह बिना किसी यत्न के ही घट जाती है। जिस वस्तु को नहीं रहना है, वह हाथ में आई हुई भी चली जाती है।

जगमाल का अवसान

शनिवार की रात्रि थी। जगमाल खेत से ही अस्वस्थावस्था में घर पहुंचा था। सारी रात बेचैनी से काटी। परिवार के सभी सदस्य जगमाल की असामयिक और आकस्मिक स्वास्थ्य-विषमता से परेशान थे, व्याकुल थे और चिन्तित थे। ग्राम-वैद्य को बुलाया गया, सभी यथाशक्य उपचार किये गये किन्तु :

औषधं मंगलं मंत्रं, अन्याश्च विविधाः क्रियाः ।
आयुषि सति सिद्ध्यन्ति, न सिद्ध्यन्ति गतायुषि ।।

अर्थात्—औषधियों के प्रयोग, मंगल कामनाएं, मन्त्रजाप और अन्य अनेक प्रकार के विधि-विधान जो रोगी के जीवन की रक्षा के लिये किये जाते हैं, वे सभी तब सफल हो सकते हैं यदि रोगी की आयु अवशेष हो किन्तु यदि आयु पूर्ण हो चुकी हो तो कोई भी उपचार उसकी जीवन रक्षा में सफल नही हो सकता।

प्रात.काल का समय था। रविवार का रवि उदय होने की तैयारी कर रहा था, इस माली परिवार का सूर्य अस्त होने की। कुछ ही मिनटों में जग का मालिक सूर्य उदय हो गया और इस माली परिवार का सूर्य अस्त। संसार का सूर्य प्रत्येक प्रातःकाल में पुनः उदय होता रहेगा परन्तु इस परिवार के सूर्य का अब कभी उदय नही होगा। प्रत्येक रात घनान्धकर के पश्चात् पुनः प्रकाश पायेगी परन्तु पारी की घोर अन्धकारमयी रात्रि का तमस् अधिकाधिक घना होता आयेगा, वह कभी प्रकाश की किरण नहीं देख सकेगी। जगमाल माली के खेत के फूल हंस रहे थे संसार की अस्थिरता पर परन्तु उसके परिवार के फूल मुरझा रहे थे संसार की नश्वरता पर। पारी की इच्छाओं पर, आशाओं पर और सुहाग पर यह एक अनभ्र वज्रपात था एवं हरदेवा

और चोले के पितृप्रेम पर कठोर हिमपात। किसी प्राचीन कवि का यह कथन—

> यावत्तीर्था यन् विमुच्योद्वहत्यं,
> प्राप्यानुष्या याति बुद्धिः प्रसादम् ॥

अर्थात्—संसार में जब कोई व्यक्ति दिवंगत होता है तो उसके सगे सम्बन्धी कुछ समय के लिये आंसू बहाकर अपने आपको मृतक के ऋण से मुक्त समझने लगते हैं और कुछ समय के शोक के पश्चात् पुनः उनका मन पूर्ववत शान्ति प्राप्त कर लेता है।

—इस माली परिवार पर घटित नहीं होता था। इस परिवार के सदस्य न तो कभी जगमाल के ऋण से उऋण होने की भावना मन में ला सकते थे और न ही उसके निधन के पश्चात् उनको कभी शान्ति ही मिलने की आशा थी। सबसे बड़ी दुःख की बात यह थी कि जगमाल, चोले के आत्म-कल्याण की दृढ़प्रतिज्ञा को पूर्ण करने से पहले ही संसार की यात्रा समाप्त कर गये थे। वे अपनी प्रतिज्ञा का भार अपनी जीवन संगिनी पारी पर डाल गये थे। दुर्भाग्य से पारी को पति के साथ मिलकर प्रतिज्ञा पालन का अवसर नहीं मिल सका। कर्म गति बड़ी बलवान है। प्राणी सोचता कुछ और है, हो कुछ और जाता है। ठीक ही तो कहा है मनु महाराज ने :

> अघटितघटितं घटयति
> सुघटित घटितानि दुर्घटीकुरुते।
> विधिरेव तानि घटयति,
> यानि पुमान्नैव चिन्तयति ॥
> सुभाषितरत्न भा० पृ० ९१, श्लो० ३६

अर्थात्—जिसका होना सम्भव नहीं उसे सम्भव बनाने वाला, जिसका होना अत्यन्त सरल है उसे दुःशक्य बनाने वाला, दैव है। वह ऐसे काम कर दिया करता है जिनके विषय में मनुष्य सोच भी नहीं सकता।

पारी : जीवन-इतिहास के चतुष्पथ पर

जगमाल के जीवन का इतिहास समाप्त हो चुका था। अब पारी अपने जीवन के इतिहास के चतुष्पथ पर खड़ी थी। वह अशान्त थी,

संभ्रान्त थी और आक्रान्त थी दु:खदावानल से। उसे कुछ नहीं सूझ रहा था कि किस पथ की ओर मुड़ना है और आगे कैसे बढ़ना है। उसके जग का माली तो चला गया था, अब उसे कौन पथ प्रदर्शन करेगा ? कौन उसे मन्त्रणा देगा ? कौन उसे आपत्तिकाल में सान्त्वना देगा ? कौन उसके सुख दुख को सुनेगा ? कौन उसके धर्म की प्रेरणा में सहायक होगा ? और कौन उसके जीवन की उलझनों को सुलझायेगा ? वह अपने को उस लता के समान आधारहीन और अनाथ समझ रही थी जिसके आश्रय वृक्ष को किसी निर्दय ने काटकर फेंक दिया हो। उसका हृदय उस मछली के समान तड़प रहा था जिसे धीवर ने पानी से निकाल दूर किनारे पर फेंक दिया हो। उसके मन में केवल मात्र यह सन्तोष था कि उसका ज्येष्ठ पुत्र हरदेवा घर के कामकाज में दक्ष हो गया था और वह गृहस्थ का और खेती का सारा काम संभालने में पूर्णरूपेण समर्थ था। चोले का जीवन कैसे अग्रसर होगा यह उसकी गंभीर चिन्ता का विषय था। वह मन में सोच रही थी, "मैंने और मेरे पति ने मिलकर यह प्रतिज्ञा की थी कि चोले को आत्म-कल्याण निमित्त तथा वंश के नाम को उज्ज्वल करने के लिये किसी जैन सन्त को बहराना है। अच्छा तो तभी होता यदि दोनों मिल कर इस शुभ काम को करते किन्तु दैव-दुर्विपाक से वे तो चले गये मुझ अकेली को जीवन का भारी भार देकर दुर्गम पथ पर चलने के लिये। जाते समय इस उत्तरदायित्व को निभाने का भार मुझ पर ही डाल गये। मैंने स्वयं ही तो प्रेरणा दी थी उन्हें इस पावन काम के लिये। उन्होंने निःसंकोच स्वीकृति प्रदान कर दी थी। उन्होंने मेरी किसी भी इच्छा की कभी भी उपेक्षा नहीं की। वे कितने भावुक थे। एक बार जब मैं तीव्र ज्वर से आक्रान्त होकर तड़प रही थी तो वे मेरे शरीर पर कम्बल डालते हुए रो रहे थे और उनके कुछ आंसू मेरे मस्तक पर टपक पड़े थे। कितनी ममता से भरा हुआ था उनका हृदय मेरे लिये।"

पारी फूट-फूट कर रोने लगी। माता को बिलख-बिलख कर रोते देख कर हरदेवा और चोला जो उसके पास ही बैठे थे, के धैर्य का बांध भी टूट गया। वे भी उसी प्रकार रोने लगे। तीनों के आंसू पोंछने वाला और उन्हें सान्त्वना देने वाला वहां चौथा प्राणी कोई भी नहीं

था। ममता का, मोह का, और शोक का वेग किस पाषाण हृदय को भी नहीं पिघला देता।

शोक विस्तारकारी यादों का प्रवाह, वे होते तो...

जगमाल को संसार से गये छह मास होने को आये थे। समय का प्रवाह आगे बढ़ रहा था किन्तु पारी के शोक सागर की लहरियां किसी भी रूप में कम नहीं हो रही थीं। प्रत्येक प्रसंग में उसे अपना प्यारा प्राणनाथ स्मरण आता था। वह कहने लगती "यदि वे होते तो ऐसा न होता, यदि वे होते तो ऐसा हो सकता था।" प्राणी चला आता है किन्तु उसकी मधुर स्मृतियां प्रियजनों के हृदय पटल पर ज्यों की त्यों अंकित रह जाती हैं। पड़ोसिन कुसुंबा ने और अन्य शुभचिन्तक ग्राम की घनिष्ठ स्त्रियों नें पारी को हरदेवा का विवाह करने की राय दी। "विवाह की खुशियों के वातावरण से और नई बीनणी के आने से निश्चय ही पारी का शोक-पारावार नीचे उतर जायेगा" ऐसा सब का विचार था। कन्या की खोज की जाने लगी। ऐसे उत्तम कुल के लिये कन्याओं की क्या कमी थी। कई घर सम्बन्ध के लिये राजी हो गये। "हरदेव की सगाई शीघ्र ही हो जायेगी, तत्पश्चात् विवाह की तैयारियां होंगी और फिर हरदेवा नई बहू ब्याह कर लायेगा, उसकी पुत्र-वधू कितनी सुन्दर होगी, वह उसकी सेवा करेगी, घर के सभी काम स्वयं कर लिया करेगी, उसे आराम करने का अवसर देगी, इत्यादि-इत्यादि कल्पनायें पारी के मन को तनिक भी सांत्वना नहीं दे सकी। उसके तो रोम-रोम में और रक्त के कण-कण में जगमाल रम रहा था। वह तो इस रूप में सोचती थी कि "वे होते तो ऐसा करते, वे इस काम को जिस खूबसूरती से करते मैं उसे कैसे कर पाऊंगी?"

हरदेव की सगाई और विवाह

हरदेव की सगाई एक प्रतिष्ठित माली कुल में कर दी गई और विवाह का दिन भी ज्योतिषी को बुलाकर निश्चित कर दिया गया। प्रत्येक ऋतु नये-नये भिन्न-भिन्न प्रकार के फल और फूल लेकर आती है। मानव हृदय में अमुक-अमुक ऋतु में अमुक-अमुक फल खाने की अभिलाषा सहज रूप में जागृत हो जाती है। वे फल उस ऋतु में

स्वादिष्ट भी लगते हैं और स्वास्थ्यप्रद भी होते हैं। जिस प्रकृति का अंग ऋतु है, फल है और फूल है उसी प्रकृति का अंग मानव शरीर भी है। मानव का भौतिक शरीर प्राकृतिक तत्वों से अनुस्यूत है। वह उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता, उन्हें झुठला नहीं सकता उनका अनादर नही कर सकता, उनसे मुक्त नहीं हो सकता और उनका प्रत्याख्यान नही कर सकता। तभी तो गीता का शंखनाद है कि :

प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।

भगवद्गीता, ३-३३

अर्थात्—प्रकृति से जात मानव के शरीर को प्रकृति के सामने घुटने टेकने पड़ते हैं, चाहे वह इन्द्रियों के निग्रह करने का कितना ही प्रयत्न क्यों न कर ले।

हरदेवा के जीवन की वसन्त ऋतु आरम्भ हो चुकी थी। साहित्यकारों ने युवावस्था को वसन्त ऋतु का प्रतीक माना है। इसलिये विवाह की कल्पना से ही उसके मन में अनंग की तरंगें उठना स्वाभाविक था। जैसे-जैसे विवाह की घड़िया समीप आ रही था वैसे-वैसे प्रमोद के कारण उसका खून बढ़ता जा रहा था। परन्तु पारी के मन पर विवाह के शुभ दिन की स्मृति किसी विशिष्ट आनन्द को जन्म नही दे रही थी। पति-वियोग से उसका रक्त तो उत्तरोत्तर सूखता ही जा रहा था। उसके हृदय-पटल से पति की प्रतिमा एक क्षण के लिये भी ओझल नही हो रही थी। पति की स्मृति उसके लिये रोग का रूप धारण करती जा रही थी। काठ मे घुन के समान, वह उसके शरीर को खा रही थी। जैसे-जैसे हरदेवा के विवाह का दिन पास आता जा रहा था वैसे-वैसे पारी का स्वास्थ्य उससे दूर हटता जा रहा था। आखिर विवाह का दिन आ गया। सब सगे सम्बन्धियों की भीड़ लग गई। मिठाइयां बनने लगी, बाजे बजने लगे, बरात सजने लगी और दूल्हे को भी सजाया गया। पारी ने माता के लिये प्रतिपादित सभी विधि-विधानों में भाग लिया; उल्लास से नही, वीतरागता से, कूटस्थता से। उसकी बाह्याकृति पर प्रसन्नता की रेखा थी किन्तु उस रेखा के पीछे उदासीनता की भावना स्पष्ट झांक रही थी। अपने सुपुत्र हरदेवा के माथे पर तिलक करते समय उसने जब अपने

प्रति की आकृति थी. जबकि उसके बदन पर देखी तो वह मुस्करा रही थी परन्तु वह मुस्कराहट क्षणिक थी। उस मुस्कराहट के पीछे छिपी उसके पति की स्मृति ने दूसरे ही क्षण उसे रोने को विवश कर दिया था। पास में खड़ी स्त्रियां सम्भवतः उसके आंसुओं को आनन्द के आंसू समझती होंगी परन्तु वास्तव में वे पति-वियोगजन्य वेदना के प्रस्फुटन थे। प्रत्येक व्यक्ति अपने में एक रहस्यात्मक इतिहास संजोये रहता है। किसी के बाह्य स्वरूप से उसके अन्तरतम के इतिहास का अनुमान लगा लेना सम्भव नहीं है।

पारी के स्वास्थ्य की चिंतनीय दशा

विवाह के विधि-विधान सुचारु रूप से सम्पन्न हो गये, बरात वापिस आ गई और नववधू का घर में प्रवेश हो गया। वधू ने पारी के चरण छूए। बहू को अभी पूरा आशीर्वाद दे नहीं पाई थी कि उसका मन फिर भर आया, स्मृतियों और अनुभूतियों के तार पुनः झंकृत हो उठे। वह सोच रही थी, "काश कि वे आज के दिन जीवित होते। कितने प्रसन्न होते वे अपने वंश की बेल को हरीभरी देखकर। उनका उल्लास मेरा उल्लास होता, उस उल्लास में वास्तविकता होती, वह उल्लास सजीव होता और मधुर होता किन्तु यह उल्लास कृत्रिम है, निर्जीव है और वेदनाच्छादित है, कम से कम मेरे लिये।" स्त्रियां सम्मिलित स्वरों में विवाह के गीत गा रही थीं किन्तु पारी पति की याद में घर के पिछले भाग के एकान्त में खड़ी फूट-फूट कर रो रही थी। घर एक ही था किन्तु उसमें बहने वाली भावनाओं की धाराएं दो थीं—एक परिहास की, दूसरी ह्रास की। इस संसार का विधान ही ऐसा है, किसी के सुहाग का श्रीगणेश होता है, किसी के सुहाग की इति-श्री होती है और किसी का सुहाग इतिश्री के पथ पर अग्रसर होता है।

इस विवाह के पन्द्रह दिन पश्चात् ही पारी के स्वास्थ्य की दशा चिन्तनीय हो गई। वह इतनी कृश हो गई कि उसका चारपाई से उतरना भी कठिन हो गया। उसके मन में अपने जीवन के प्रति तरह-तरह के सन्देह उत्पन्न होने लगे। उसे विश्वास होता जा रहा था कि अब उसके जीवन का कोई भरोसा नहीं है। सबसे अधिक चिन्ता उसे चोले की थी जो रह-रह कर उसे चिन्ता-सागर में डुबो रही थी।

कभी वह सोचती थी "यदि मैं जीवित रह गई तो हम दोनों मां-बेटा दीक्षा लेकर आत्म-कल्याण करेंगे।" "कभी सोचती यदि मैं चली गई तो इसका क्या बनेगा।"

पुत्र चाहे कैसा भी हो मां को अपनी जान से भी प्यारा होता है। फिर चोला तो सर्वगुणसम्पन्न और सर्वशुभलक्षणान्वित था, माता की ममता उसके लिये कैसे न उमड़ती? वह उसका जाया था, उसे अपना दूध पिलाया था, सुलाया था, जगाया था, दुलराया था, गृह कार्य करते समय भी अपने पैर से झूले की डोरी बांधकर झूले में उसे झुलाया था, रोते को मधुर लोरियों से चुप कराया था, रूठे को तरह-तरह के प्रलोभन देकर मनाया था, आत्म-कल्याण की भावना के परिणामस्वरूप उसे पाया था, और वह अपने पिता की छाया था एवं अपने रोम-रोम में समाया था।

उत्तरदायित्व कुसुंबा को सौंपा

दो तीन दिन के अन्तराल में ही पारी को पूर्ण विश्वास हो गया कि अब वह शरीर से इतनी क्षीण और जर्जरित हो गई है कि उसका बचना कठिन ही नहीं, असम्भव है। इस अवसर पर उसने अपनी परमप्रिय शुभचिन्तक सहेली और धर्मप्रेरिका पड़ौसिन कुसुम्बा को याद किया। उसे बुलाया। वह तुरन्त उपस्थित हो गई। जैसे वायु का स्पर्श पाते ही अग्नि और अधिक प्रज्वलित हो जाती है, वैसे ही दुःख के समय जब कोई हमारा अत्यन्त घनिष्ठ मित्र हमारे पास आता है तो हमारा दुःख और घना हो जाता है और आंसुओं के रूप में बाहर आने लगता है। कुसुम्बा को देखते ही पारी हिचकियां ले लेकर रोने लगी। पास में बैठा चोला भी रो दिया, माता की ममता से आक्रान्त होकर किन्तु वह माता की पीड़ा के रहस्य को न छिपा सका। कुसुम्बा बड़ी आश्चर्यचकित थी कि आखिर इन आंसुओं की पृष्ठभूमि क्या है। उसने पारी को सान्त्वना देकर कष्ट का कारण पूछा। ओढ़ने के आंचल से आंसू पोंछते हुए, अपने भी और चोले के भी, गद्-गद् स्वर में बोली :

"बहिन! तेरे से बढ़कर इस संसार में मेरा और मेरे परिवार का कोई शुभचिन्तक नहीं है। तू मेरी धर्म बहिन है और धर्म का रंग भी तुमने ही मुझ पर चढ़ाया है। तुम्हारे साहचर्य से ही मैं जैन सन्तों

के प्रवचन सुनने जाती रही हूं। समय-समय पर तुमने ही मेरी उलझनों को सुलझाया भी है। अब एक अत्यन्त कठिन उलझन में मैं पड़ी हुई हूं, अधिकाधिक चिन्तन करने पर भी मैं उसे सुलझा नहीं सकी हूं। अब तो मात्र तुम्हारी ही शरण है। "बेटे चोले! हरदेवा के भोजन का समय हो गया है, तुम उसकी रोटी लेकर खेत चले जाओ।" चोले ने माता की आज्ञा का पालन किया। "तो हां, आज मैं तुमको अपने दाम्पत्य-जीवन की एक रहस्यात्मक बात बताती हूं जो आज तक मैंने किसी के सामने व्यक्त नहीं की है। एक बार जब हम दोनों पति-पत्नी जैन सन्तों का व्याख्यान सुनकर घर लौटे तो हम बड़े प्रभावित थे उनकी आत्म-कल्याण की धर्म शिक्षा से। मुझे भली-प्रकार स्मरण है, तुम भी उस व्याख्यान में उपस्थित थीं। वह बखान जीव के विविध प्रकार के कर्मों के फल पर था। जीव अपने कर्मों के फल के कर्ता को और फलप्रदाता को कहीं बाहर ढूंढता फिरता है किन्तु वास्तव में वह स्वयं ही अपने कर्मों का कर्ता और भोक्ता है। महाराज कहते थे कि जिस जीव ने शुभ कर्मों के द्वारा और तपश्चर्या द्वारा अपने अर्जित पाप-कर्मों की निर्जरा नहीं की, वह अनन्त काल तक अनेक योनियों में भटकता रहता है। इसलिये असली कमाई या धन तो पुण्य कर्मों का अर्जन है। मैंन अपने पति से कहा, "निःसन्देह हमारे पास जीवन की सभी सुविधाएं, सुख और सम्पत्ति विद्यमान हैं किन्तु असली कमाई तो हमने भी अब तक कहां की है? कौन से पुण्य की प्राप्ति हमने की है? कौन से शुभ कर्म की ओर हमारी प्रवृत्ति अब तक रही है। इस पूजी के अतिरिक्त हमें शुभ कर्मों की पूंजी का भी तो संग्रह करना चाहिये।" इसके उत्तर में मेरे पति ने मुझ से कहा था, "बात तो तुम्हारी सोलह आने सत्य है किन्तु अब ढलती आयु में तेरे और मेरे लिये तो संयम लेना संभव नहीं है। बाकी रहा हरदेवा, उसके बिना घर का और खेत का भार कौन संभालेगा, उसको तो मैं कभी भी सन्त-मार्ग पर चलने की आज्ञा नहीं दे सकता। हां, यदि दैव-कृपा से हमारे घर एक और पुत्र हो जाये तो मैं बड़ी प्रसन्नता से उसे संयम लेने की आज्ञा दे दूंगा।" मैंने कहा, "पुत्र-मोह में पड़कर इन्कार तो नहीं कर दोगे?" इस पर उन्होंने बड़ी दृढ़ता से कहा था, "मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि मैं अपने वचनों का सचाई से पालन करूंगा।" इस प्रतिज्ञा के मास में ही मैं गर्भवती हो गई थी जिसके

परिणामस्वरूप चोले का जन्म हुआ। हम दोनों बड़े प्रसन्न हुए थे। चोले जैसे रूपवान एवं शुभलक्षणसम्पन्न पुत्र को पाकर भी उसे निःश्रेयस के पथ का पथिक बनाने लिये उद्यत थे। पुत्र के मोह के कारण हमारे भावों में कभी शैथिल्य नहीं आया। हमारे कुल में कोई जीव तो आत्म-कल्याण के मार्ग पर चलकर अपना कल्याण करे। अपना कल्याण ही क्यों, इससे हमारे कुल का नाम भी तो उज्ज्वल होगा। मेरे दुर्भाग्य से वे इस प्रतिज्ञा के पालन करने के समय तक जीवित न रह सके। पति प्रेम का आवेग पुनः जागृत हो गया और पारी की आंखों से टपटप आंसुओं की बूंदें टपकने लगीं। विवेक से अपने को संभालती हुई कहती गई, "वे उस प्रतिज्ञा का भार मुझ पर छोड़ गये। काश! कि हम दोनों मिलकर उस प्रतिज्ञा का पालन कर पाते किन्तु दैव को यह स्वीकार न था। दैव की कुदृष्टि अभी भी निरन्तर चालू है, ऐसा लग रहा है। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा है कि सम्भवतः मैं भी उस प्रतिज्ञा का पालन नहीं कर सकूंगी। मुझे अपनी आयु की घड़ियां अब सीमित लग रही हैं। यदि मैं कालकवलित हो गई तो मेरी और मेरे पति की प्रतिज्ञा का भार अब तुम पर है। चोला अभी नादान है, बेसमझ है और प्रकृति का भोला है। इसे सम्भाल कर रखना, कोई कष्ट न होने देना। अब तो बहिन तुम ही इसकी माता हो। जैसे संस्कार इसके डाल दोगी, यह भविष्य में वैसा ही बन जायेगा। तुम तो धर्मनिष्ठ आत्मा हो, यथासम्भव इसको ऐसी शिक्षा देना कि इसकी प्रवृत्ति वैराग्य की तरफ हो जाये। यदि कोई जैन सन्त जो ज्ञानवान् विद्वान् और चरित्रवान् हो, यहां आ जाये तो चोले को उसे बहरा देना। चोला गुरु के चरणों में रहकर विद्वान् बनेगा, धर्म का प्रचार करेगा, आत्म-कल्याण करेगा और कुल के नाम को रोशन करेगा। तुम ऐसा आश्वासन दोगी तो मेरे प्राण बड़ी शान्ति से पर-लोक का प्रयाण कर सकेंगे। अन्यथा इस के मोह में उलझ कर वे बड़ी कठिनाई से इस देह का त्याग करेंगे। महाराज साहब का यह वाक्य मुझे अब तक याद है कि अन्त समय में जीव के भाव अत्यन्त शुद्ध और पावन होने चाहियें। मुझे मरने की कोई चिन्ता नही है, जो आया है उसने तो जाना ही है। कोई भी यहा सदा रहने वाला नहीं है। मेरे जीवन संगी भी तो चले गये, किसको आशा थी कि वे इतने जल्दी चले जायेंगे। मैं तो सदा यही चाहती आई थी कि वे मुझे

अपने हाथ से विदा करके फिर जायें परन्तु मेरे चाहने से क्या होने वाला था। मुझे तो अब मात्र चिन्ता चोले की है। तुम यदि इसका उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लो तो मुझे इसकी भी चिन्ता नहीं है। कुसुम्बा! मुझे निराश न करना, मैं बड़े आत्मविश्वास से तुमसे आग्रह भी कर रही हूं और प्रार्थना भी। यह तो किसी आत्मा के कल्याण की कामना है, तुम भी तो इससे शुभ कर्म बांधोगी। ताकि मैं चिन्तामुक्त हो जाऊं, चोले को तुम्हारे वरद हाथों में सौंप कर।"

उत्तरदायित्व-निर्वाह की प्रतीक्षा

कर्मों की मारी पारी बेचारी यों कह कर चुप हो गई और बड़ी उत्कंठा से कुसुम्बा के प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा करने लगी। वह मन में बड़ी शंकित थी कि पता नहीं क्या उत्तर मिलेगा। कुसुम्बा बोली :

"पारी! तुम अपना मन इतना छोटा क्यों करती हो। असल में तो देवकृपा से तुम स्वयं थोड़े ही दिनों में स्वस्थ हो जाओगी और अपने हाथों से अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर सकोगी किन्तु यदि ऐसा दैव को स्वीकार नहीं है तो मैं तुम्हारे उत्तरदायित्व का पूर्ण रूप से निर्वाह करूंगी। आखिर प्राणी ही प्राणी के काम आता है। मैं तुम्हें अपनी सगी बहिनें से भी अधिक प्यारी और घनिष्ठ समझती हूं। फिर हम धर्म-बहिनें भी तो है। एक ही धर्म का पालन करती हैं। अशुभकर्मों से डरती हैं और शुभ कार्य करनें में प्रयत्नशील रहती हैं। यह कल्पना तो तुम्हे सपने में भी नही करनी चाहिये कि मैं तुम्हारे उत्तरदायित्व को निभाने में तनिक भी शैथिल्य दर्शाऊंगी। चोले के विषय में तुम्हारी यह आत्मकल्याणकारिणी भावना जानकर मेरा मन अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहा है। इस बात का तुमने पहले मुझसे जिक्र नही किया। यह तो अच्छी बात थी, इसे छिपाने की आवश्यकता नही थी। मुझे ऐसा लग रहा है कि चोले का जीव बड़ा पुण्यवान् है जिसके उद्धार के लिये जन्म से पूर्व ही ऐसी वीतरागता की भावनाएं इस घर मे अपना घर कर गई थी। अपने पूर्वभवों में वह वीतरागता की ही गोद में पलता आया है, ऐसा मालूम होता है। मैंने तो जन्म के अगले दिन ही उसके शारीरिक शुभ-लक्षणों को देखकर अनुमान लगा लिया था कि निश्चित रूप से यह बालक होनहार है और भविष्य में महान् बनकर अपने वंश की शान में चार चान्द लगायेगा। भवितव्यता या कर्मगति कभी अन्यथा नहीं होती, वह जीव को जिस ओर

से जाना चाहती है उसे उसी ओर विवश होकर जाना पड़ता है। जिस जीव ने पूर्वभव में शुभ कर्मों का उपार्जन किया है वह उत्तर जन्मों में भी उसी ओर प्रवृत्त होता है, उसके लिये कर्मगति वैसी ही परिस्थितियां पैदा करती है। कुछ ही दिनों में, ऐसा समाचार मिला है, यहां स्वामी सूरजमल जी महाराज के शिष्य स्वामी नथमल जी पधारने वाले हैं। वे बड़े ही विद्वान्, चरित्रवान्, ज्ञानवान् धर्मध्यान में धुरंधर निष्ठावान्, इन्द्रिय पराजय में विशिष्ट बलवान्, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि कषायों पर प्रहारवान् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र के निधान, आगम-सिद्धान्त-धर्मग्रन्थों में अतिशय गतिमान्, धर्ममार्ग-परिपन्थिग्रंन्थग्रथितकुग्रन्थियों के निकृन्तन के लिये तर्क-कुठारवान्, निःश्रेयस पथ पर अबाधगति से अग्रसर होने के लिये अपेक्षित सामर्थ्यवान्, धार्मिक कर्मकाण्ड की क्रियाओं में कर्मठ क्रियावान्, मतमतान्तरों की मान्यताओं के ज्ञान में असाधारण मतिमान्, जीवदया-प्रचार के संचार में सक्रिय शक्तिमान्, दुःखदावानलदग्ध जगतीतल के भूतों के लिये साक्षात् मघवान्, कर्मास्रवसंतप्त प्राणियो के लिये संवर और निर्जरा के साक्षात् मूर्तिमान् तत्वावधान, अज्ञानान्धकार-जनित जीव की वासनाओं को आवृत करनेवाले परिधान, कषायतमसाच्छादित जगत् के जीवों के लिए मोक्ष-मार्ग को प्रदर्शित करने वाले भास्वान् और प्राणिमात्र के लिये करुणा के निधान हैं। उनकी सेवा में रहकर चोला मतिमान् बनेगा, ज्ञानवान् बनेगा और विद्वान् बनेगा। वे जब यहां पधारेंगे तो मैं चोले को उन्ही की सेवा मे बहरा दूंगी और तेरी मनोकामना पूरी कर दूंगी। जब तक उनका पदार्पण यहा नहीं होता तब तक मैं इसका अपने प्यारे पुत्र के समान पालन पोषण करूंगी। यद्यपि माता के अभाव की पूर्ति संसार में कोई भी नहीं कर सकता, तो भी मैं प्रयत्न करूंगी कि इसे पूर्ण माता का वात्सल्य प्राप्त हो। चोला अत्यन्त बुद्धिमान, सौम्य, विनम्र एवं गुण-ग्राही बालक है, निश्चय ही यह सन्त समुदाय का शिरोमणि, तपश्चर्या में मूर्धन्य और विद्वानों में अग्रगण्य बनेगा, ऐसी मेरी धारणा है।"

पारी के प्राण भ्रमा के अंधकार में

अपने आग्रह का और अपनी प्रार्थना का कुसुम्बा से अनुकूल उत्तर पाकर पारी आनन्द-विभोर हो उठी और आंखों में आनन्दाश्रू भर कर

पाकर पारो आनन्द-विभोर हो उठी और आंखों में आनन्दाश्रु भर कर कहने लगी, "कुसुम्बा ! तेरे जैसी सज्जन, उदार और करुणामयी आत्माएं बहुत कम हैं। मैं तुम्हारी जन्म-जन्मान्तर तक कृतज्ञ और ऋणी रहूंगी। तुम मेरी पड़ोसिन और धर्म-बहिन ही नहीं हो, तुम तो साक्षा........, बस इतना ही कह पाई थी कि उसके प्राण-पंखेरु अमावस्या की घनान्धकारमयी रात्रि में पता नहीं कहां खो गये। इस स्वर्गगमन की घड़ी पर हरदेवा, चोला, और हरदेवा की बहू-सभी उपस्थित थे। अमा के अन्धकार के समान ही घर के सभी सदस्यों के हृदयों का अन्धकार भी घनतम होता जा रहा था।

माता का वियोग

रजनी बीती, उषा ने अंगड़ाई ली और सूर्यनारायण ने दर्शन दिये परन्तु अपनी प्यारी माता से सदा के लिए बिछुड़ कर चोले की शोकान्धकार की रजनी हिम-ऋतु की रात्रि के समान अधिकाधिक लम्बी होती जा रही थी। आत्म-सान्त्वना देने वाली उषा की किरण उसे कहीं दृष्टिगोचर नहीं हो रही थी। वह भलीभांति समझ गया था कि मातृवात्सल्य का प्रकाश उसे कभी मिलने वाला नहीं है। अभी तक तो चोला शुद्ध संसारी जीव था। अब तक उसने शिक्षा का प्रकाश कहा पाया था ? अभी तक उसने वैराग्य के रंग को कहां देखा था ? अभी तक वह किसी विद्यागुरु के चरणों में कब बैठा था ? अब तक तो माता ही उसकी गुरु थी, जो घर के कामों से अवसर मिलने पर उसे कोई धर्म की, शिक्षा की और सदाचार की कहानी सुना दिया करती थी। दुर्विदग्ध दैव ने उसे भी उससे छीन लिया। उसके कोमल, भोले और पवित्र हृदय में रह रह कर माता के प्रेम की लहरें उमड़ने लगी। ऐसे मौके पर वह अपने फूलों के खेत के कोने में, जहां किसी को भी उस पर नज़र न पड़े, जाकर बैठ जाता। दु:ख का साथी एकान्त है। संसार का कोई भी दुखी प्राणी आंसुओं के रूप में बहने वाले अपने दु:ख को किसी के सामने व्यक्त करना नहीं चाहता। वह अपनी माता द्वारा किये गये अपने प्रति प्रत्येक उपकार को, दुलार को, पुचकार को, मनुहार को, कुतूहल-परिहार को, मधुर व्यवहार को, रूठने पर किये प्रेमोपहार को और बाल-सुलभ-हठ-याचित वस्तु के नकार को स्मरण करके और उन क्रियाओं के पीछे छिपी मातृ-प्रेम की भावनाओं में डूब जाता, उसका हृदय भर आता और वह हिचकियां ले-ले कर

फूट-फूट कर रोने लगता। जब रोते-रोते थक जाता, आंसू अवशेष न रहने से आँखों में जलन मात्र रह जाती तो सोचने लगता :

"कितनी अच्छी थी, कितनी प्यारी थी, मेरी मां। क्या संसार की सभी माताएं अपने बच्चों को इतना प्यार करती होंगी ? नहीं, ऐसा नही हो सकता। मेरी मां से बढ़ कर संसार की कोई मा नही हो सकती। एक बार मैं जब तीव्र ज्वर से पीड़ित था तो मेरी मां मेरे सिरहाने बैठी मेरे सिर पर भी हाथ फेरती जाती थी और मेरे दु:ख को सहन न करके रोती भी जाती थी। उसकी आंसुओं की कई बून्दे मेरी गालो पर टपक पड़ी थी। मा को रोते देख मैं भी रोने लगा था। माँ ने मुझे पुचकारते हुए कहा था, "तू रोता क्यों है बेटे, क्या तेरे सिर मे पीड़ा है ? अभी ठीक हो जाएगा, मैं अच्छी तरह से दबा देती हूं।" "नहीं मा, मैं तो इसलिये रोता हूं कि तू जो रो रही है।" "मैं कहां रो रही हूं, बेटे ! तुझे भ्रम हो गया है।" मां ने मुझे सान्त्वना देने के लिये झूठ बोल दिया था। यद्यपि मां ने झूठ न बोलने का नियम ले रखा था किन्तु उस नियम से भी कही बढ़ कर उसके हृदय में मेरे प्रति वात्सल्य था। वह मुझे प्रसन्न रखने के लिये बड़े से बड़े नियम की भी उपेक्षा कर देती थी। मुझे भलीभान्ति स्मरण है एक बार आपत्तिकाल में जब फूलों की खेती को शीत लहर और कुहरे ने जला दिया था और घर आर्थिक दृष्टि से संकट में पड़ गया था तो एक रात मा स्वय भूखी ही सो गई थी किन्तु मुझे भूखा नहीं सोने दिया था। घर में मैं माँ को सबसे अधिक प्यारा था। पिता के निधन से यद्यपि मा को सबसे बडा धक्का लगा था किन्तु अपनी व्यथा की उपेक्षा करके भी वह सबसे अधिक ध्यान मेरा रखती थी कि कही मैं उदास न हो जाऊं। मां मुझे अधर में ही छोड़ कर चली गई। पर यह उसके वश की बात कहां थी। वह क्या मुझे इस किशोरावस्था में छोड़कर जाना चाहती थी। उसे जाना पड़ा, वह सृष्टि के नियम को भला भंग कैसे कर सकती थी ? मा मेरे लिये क्या नहीं थी, मेरा तो वही सर्वस्व थी। मैं क्या मां के ऋण को कभी चुका सकता हूं ? मैं कितना भाग्यहीन हूं, पहले पिता चले गये और उनको गये एक साल भी पूरा नही हो पाया कि मां भी मुझे अनाथ छोड़ कर चली गई। इस अभागे को मां ने सेवा करने का कुछ भी

अवसर न दिया। ऐसा लगता है कि मां मेरी देखरेख का उत्तर-दायित्व कुसुम्बा-मां पर छोड़ गई है। कुसुम्बा-मां भी मुझे अपनी मां जैसा ही प्यार करती है किन्तु मेरी मां जिसके हृदय का मैं टुकड़ा था, आंखों का तारा था और जान से भी प्यारा था उसका स्थान तो संसार में कोई नहीं ले सकता। वह तो साक्षात देवी थी और वात्सल्यरस की प्रतिमा थी। मां के बिना अब मेरे भावी जीवन का क्या होगा? मेरी देखरेख कौन करेगा? मेरी सुविधाओं का ध्यान कौन रखेगा? मुझे प्रातः समय पर जगाकर कौन प्रातराश करायेगा? मेरी इच्छा न रहते भी कौन मुझे बलात् पौष्टिक भोजन खिलायेगा? पुचकार में और दुलार में तो प्यार था ही, माँ की तो डांट में और क्रोध में भी प्यार था। कभी मेरे अपराध करने पर मुझे पीट भी देती थी तो बाद में रोने लगती थी, संभवतः इसलिये कि उसे अपने प्यारे बेटे को पीटने का पश्चात्ताप होता था। दूसरा कोई मुझ पर हाथ उठाये इसे वह कभी सहन नही करती थी। एक बार खेत में दो ढोर घुसकर फसल को खराब कर रहे थे, मैं वहीं पर था, मैंने गफलत से उन्हे हटाया नही, इस पर पिताजी ने मेरे दो चपत जमा दिये थे। मां जब मध्यान्ह का भोजन लेकर पहुंची तो उसने मुझे रोते पाया। कारण जानने पर वह पिताजी से नाराज हो गई थी और उन्हें कहने लगी कि 'क्या फूलों की फसल घर के अमूल्य फूल से अधिक मूल्यवान है?' पिताजी कुछ भी नही बोल सके, वे चुप हो गये थे। ठीक है, हरदेवा भी अच्छा है और भाभी भी मेरा कभी निरादर नहीं करती, किन्तु माता का स्थान संसार में कौन ले सकता है? भाई और भाभी से अधिक अब मुझ पर अधिकार कुसुम्बा-मां का है। उसकी शिक्षाओं और धर्म-कथाओं को सुन-सुनकर अब मुझे संसार असार लगने लगा है। वह ठीक ही तो कहती थी कि संसार नश्वर है और जीवन अस्थिर है। स्थिर होता तो पिता की असामयिक मृत्यु क्यों होती? स्थिर होता तो मेरी प्यारी मां मुझे मंझधार में ही छोड़ कर क्यों चल देती? जब कोई भी स्थिर नहीं है तो मैं अपवाद कैसे बन सकता हूँ? परन्तु कुसुम्बा-माँ यह भी तो कहती थी कि "शुभ कर्मों के अर्जन से और तपश्चर्या के अवलम्बन से जीवन अमर भी बन सकता है।" यह बात मेरे समझ में नहीं

आई। मेरे पिता और मेरी मां भी शुभकर्म ही तो करते थे। खेती का काम क्या तपश्चर्या नहीं है तो फिर वे अमर क्यों नहीं बने? वे मुझे छोड़कर क्यों चले गये?"

इत्यादि अनेक प्रकार की भावनाएं, स्मृतियां और कल्पनाएं चोला के कोमल, विचलित एवं अशान्त मन-पटल पर चलचित्र के चित्रों के समान अंकित होती जाती थीं। उसका विद्या-संस्कार यद्यपि अभी तक घरेलू विषम वातावरण के कारण नहीं हो पाया था परन्तु पूर्वभवार्जित प्रतिभा के कारण उसका अन्तर्जीव और अन्तर्मन-दोनों सजग थे। वह बोलता बहुत कम था, जैसे-जैसे उसकी आयु आगे बढ़ती जा रही थी, वह उत्तरोत्तर गंभीर होता जा रहा था। उसके मौन से सभी यही अनुमान लगाते थे कि माता की मृत्यु इसमें कारण थी परन्तु वास्तव में उसके मौन का क्या रहस्य था? इसका ज्ञान किसी को नहीं था।

वैराग्य का बीजारोपण

कुसुम्बा अपने उत्तरदायित्व एवं पारी की प्रतिज्ञा को भूली नहीं थी। वह पारी के समान ही चोला का पूरा ध्यान रखती थी। हरदेवा और भाभी भी चोले से बड़ा प्यार करते थे और जो कुछ वह कहता था उसकी मांग पूरी करते थे परन्तु चोला अधिकतर कुसुम्बा के पास ही रहना पसन्द करता था क्योंकि वह उसे बड़ी सुन्दर-सुन्दर धर्म की कहानियां सुनाया करती थी। 'चोला को वैराग्य के रंग में रंग कर धर्म के मार्ग पर प्रवृत्त कराना' पारी के इन शब्दो को कुसुम्बा भूली नही थी। चोला धार्मिक कहानियों को बड़े चाव से सुनता था और बार-बार आग्रह करने लगा था कुसुम्बा से वैसी धार्मिक कहानियां अधिकाधिक सुनाने के लिये। कुसुम्बा का अब तक का सारा जीवन जैन सन्तों के प्रवचन सुनते बीता था। उसका मस्तिष्क धार्मिक कहानियो का भण्डार था। वह चोले को कभी भी निराश नहीं करती थी। इन धर्मकथाओं के श्रवण के परिणामस्वरूप चोले की मानसिक प्रवृत्तिया धर्म के रंग से रंजित होती जा रही थीं। वैराग्य के संस्कारों का बीजारोपण हो चुका था, अब तो उर्वरा भूमि पाकर उनका अंकुरित होना बाकी था। इसी अन्तराल में कुसुम्बा को यह समाचार मिला कि स्वामीजी सूरजमलजी के शिष्य नथमलजी

महाराज पीपलिया गांव में दो दिन में पधारने वाले हैं। ठीक ही तो लिखा है विक्रम चरित्र में :

> भवितव्यं यथा येन, नासौ भवति चान्यथा।
> नीयते तेन मार्गेण, स्वयं वा तत्र गच्छति॥

सु० र० भा० ९१।३०

अर्थात्—जो कार्य जिस ढंग से जहां होना होता है वह वैसे ही होता है, उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता। या तो जीव को उसकी परिस्थितियां वहां ले जाती हैं या फिर वह स्वयं वहां चला जाता है।

भर्तृहरि भी इसी सत्य का पोषण करते हुए लिखते हैं :

> येन यत्रैव भोक्तव्यं, सुखं वा दुःखमेव वा।
> स तत्र बद्ध्वा रज्ज्वेव, बलाद्दैवेन नीयते॥

भर्तृहरि-सुभाषित-संग्रहः, ९९२

अर्थात्—जिस जीव को जो सुख या दुःख जिस स्थान पर भोगना होता है, वह जीव सुख-दुःख भोगने के लिये वहां ऐसे पहुँच जाता है जैसे दैव ने डोरी से बांधकर बलात् उसे वहां पहुँचा दिया हो।

स्वामीजी नथमलजी महाराज के, दो दिन पश्चात्, आगमन के समाचार को सुनकर कुसुम्बा फूली न समाई। उसने चोले के समक्ष स्वामीजी नथमलजी महाराज की प्रशंसा करते हुए कहा :

"बेटे चोले, स्वामी जी नथमलजी महाराज बड़े पहुंचे हुए सन्त है। वे सभी धर्मों के, शास्त्रों के, विशेष रूप से जैनागमों के असाधारण विद्वान् हैं। तपश्चर्या की तो वे जीती-जागती प्रतिमा हैं। वे जितेन्द्रिय हैं। काम, क्रोधादि कषायों को उन्होंने अपने ज्ञानरूपी कुठार से काट डाला है। वे पंच महाव्रत धारी सन्त हैं। उनकी ज्ञान गरिमा एवं तपश्चर्या की महिमा की धूम मरुधरा की पावन भूमि में सर्वत्र फैली हुई है। सांसारिक प्रलोभनों की एवं ऐन्द्रिय विषयों की बाह्य सुरम्यता और परिणाम में दुर्विपाकता के तत्व-ज्ञान में वे निष्णात हैं। समता की भावना का साक्षात् स्वरूप होने के कारण वे ऊंच-नीच की भावना की लघिमा से सर्वथा अलिप्त हैं। उनका रोम-रोम प्राणिमात्र के प्रति करुणा से अनुप्राणित है। उनका साधुमार्गीय जीवन उच्च-विचार, सदाचार और मधुर-व्यवहार से ओत-प्रोत है। साधु मार्ग में आने

वाले अनेक क्लेशों को, कठिनाइयों को, कर्कशताओं को और अज्ञानी जीवों द्वारा अज्ञानवश मार्ग मे प्रकीर्ण कण्टकों की कटु पीड़ा को वे दुःख से नहीं किन्तु धैर्य से सहन करते है। वे अपने विरोधियों पर क्रोध नहीं किन्तु करुणा करते हैं। दुष्कर्मों में प्रवृत्त दुष्टात्माओं को दुष्कर्म का परिणाम बताकर वे उन्हें सन्मार्ग पर प्रवृत्त करने का प्रयत्न करते हैं। कर्मबन्ध की कारा में जकड़े हुए जीवों को वे लोकोत्तर जन्म में सद्गति प्राप्त करने के लिये कर्मक्षय का उपदेश देते हैं। कुमार्ग में प्रवृत्त प्राणियों को वे सन्मार्ग की सरल पगडंडी पर चलने की सुन्दर शिक्षा देते हैं। वे सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव को भी जीवन से वंचित करने में हिंसा मानते हैं। इसी कारण वे चलते भी सावधानी से हैं, बोलते भी सावधानी से हैं, बैठते भी सावधानी से हैं, उठते भी सावधानी से हैं, सोते भी सावधानी से हैं और आहार भी सावधानी से करते हैं। उनका ऐसा कहना है कि ऐसा करने से पाप कर्म का बन्ध नही होता। उनका प्रवचन बड़ा ही मधुर, सारगर्भित एवं विद्वत्तापूर्ण होता है। बड़े दूर-दूर के लोग उनका प्रवचन सुनने के लिये आया करते हैं। उनको सुनने के लिये मैंने भी बड़ी दूर-दूर की यात्राएं की हैं। एक बार जब वे सोजत मे विराज रहे थे तो मैंने पारी को अपने साथ चलने को कहा था किन्तु उस समय तुम्हारा जन्म होने वाला था, इसलिये वह जा नही सकी थी। कल का ही दिन बाकी है, परसों मध्यान्ह में वे पधार जायेंगे। तुम भी मेरे साथ चलना बेटे, उनका प्रवचन सुनने के लिये। बड़ी ज्ञान की, विज्ञान की, समाधान की, कर्म-सन्धान की और मोक्षधाम की बातें सुनोगे तुम उनसे। बिना सद्गुरू की प्राप्ति के आत्म-कल्याण का बोध कभी भी संभव नहीं है। वे सद्गुरू हैं, संसार के जीवों को भव सागर से तारने वाले हैं और स्वयं तरते हुए मोक्ष मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं। पूर्व जन्मार्जित कर्मों का तपश्चर्या द्वारा क्षय करते हुए वे इहलोक में असख्य जीवों की यतना द्वारा रक्षा करते हुए शुभ कर्मों का संचय किया करते हैं। अपने उपदेशों द्वारा श्रावकों को भी हिंसा का परित्याग करने का नियम दिलाकर महान् पुण्यार्जन करते हैं। सन्त तो यहां पीपलिया में सभी धर्मों के आते रहते हैं परन्तु जैसी कठोर साधना, घोर तपश्चर्या और आश्चर्यजनक कष्ट-

सहिष्णुता मैंने जैन सन्तों में देखी है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। तू भी चलेगा न बेटे, उनका व्याख्यान सुनने के लिये ?

"निश्चित चलूंगा मां, मुझे प्रतिदिन साथ लेते चलना। भूल न जाना कभी।"

चोले ने आग्रहपूर्वक विनम्र वाणी में उत्तर दिया।

स्वामीजी श्री नथमलजी महाराज का आगमन

पीपलिया गांव के जैन-अजैन सभी श्रावक स्वामीजी नथमलजी महाराज के आने के तीसरे दिन की बड़ी उत्कंठा से प्रतीक्षा करने लगे। कहते हैं प्रतीक्षा की घड़ियां लम्बी होती जाती हैं। अगला दिन आया और फिर आया तीसरा दिन भी। स्वामीजी के लिये गांव के स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, कई माईल तक दूर चले गये। बड़ी उत्कट श्रद्धा से स्वामीजी की अगवानी की। सबने सविधि वन्दना की और स्वामीजी की सुखसाता पूछी। सबको 'दया पालो' का आशीर्वाद देकर सन्त गांव की ओर बढ़े। स्वामीजी नथमलजी महाराज का सूर्य के समान देदीप्यमान वदन किसको प्रभावित नही कर रहा था। ज्ञान की ज्योति के वे जीवित पुंज थे। विषय-वैश्वानर-संतप्त प्राणियों के वे आश्रय-निकुंज थे। शरणागत और अशरणागत सभी प्रकार के जीवों के लिये वे करुणा के अवतार थे और कषाय-शत्रु-समूह-विनाश के लिये वे दुधारी तलवार थे। शान्ति, गंभीरता और धीरता के वे अगाध पारावार थे। कुछ ही क्षणों में उन्होंने अपनी चरण-रज से गांव की धरित्री को पावन किया। साधु की आवश्यक क्रियाओं से निवृत्त होकर वे तखत पर विराजमान हो गये। आस-पास के गावों के लोग भी हजारों की संख्या में वहा उनका प्रवचन सुनने के लिये पहुंच चुके थे। कुसुम्बा भी चोले को लेकर वहां उपस्थित थी। बड़ी उत्कंठा से प्रतीक्षा कर रहे थे, लोग उनके मुखारविन्द से निकलने वाली वाणी के सौरभ की।

स्वामीजी की प्रवचन-वृष्टि

स्वामी जी नथमल जी महाराज का प्रवचन आरम्भ हो गया। आरम्भ जिनेन्द्र भगवान की स्तुति से हुआ। श्रमण धर्म की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने जैन धर्म के अणियों पर पड़ने वाले

प्रभाव का प्रसंग चलाया। कथा अंतगड़ सूत्र की थी। स्वामीजी ने फरमाया :

"बहुत प्राचीनकाल की बात है। इसी भारतभूमि में" 'पोलासपुर' नाम का एक नगर था जो विजयसेन नामक राजा की राजधानी था। धर्मनिष्ठ राजा अपनी 'श्री' नाम की रानी के साथ बड़ी कुशलतापूर्वक प्रजा का शासन करता था। उसका राजदण्ड दुरतिक्रम्य था, उसका न्यायनिर्णय अनतिक्रमणीय था, उसकी शासनपद्धति अतुलनीय थी और उसकी आचार-संहिता अति कमनीय थी। सभी जातियों के लोगों में पारस्परिक समता का, प्रेम का, सहयोग का, सम्मान का, समय पड़ने पर अनुदान का और एक दूसरे के दुःख की पहचान का भाव था। राजा विजयसेन और रानी 'श्री' दोनों सन्तो का संग करने वाले थे। सन्तों के प्रवचनो को सदा अपने जीवन मे उतारने का प्रयत्न करते थे। उनके राज्य में पशुबलि राजकीय आज्ञा से निषिद्ध थी। दोनों बडे दयालु थे। किसी मनीषी सन्त के उपदेश से उन्होंने आखेट का परित्याग कर दिया था। वे जाव दया के घोर पक्षपाती थे। जीव दया के पक्षपाती होने का यह अर्थ नहीं है कि वे मन से कायर थे। युद्ध-भूमि में तो दुर्धर्ष योद्धा ही थे। कोई पडौसी राजा यह साहस नही कर सकता था कि उनकी स्टेट पर आक्रमण करे। 'यथा राजा तथा प्रजा' की उक्ति के अनुसार उनकी प्रजा भी दया की भावना से पूर्णरूपेण सम्पन्न थी। सत्संग की अनुरागिणी थी। कोई भी श्रमणसन्त जब राजधानी की सीमा मे होता तो लोग महती संख्या में उसकी अगवानी करने जाया करते थे। बड़े सम्मान, श्रद्धा और सत्कार से नगरी में सन्तों का प्रवेश होता था। प्रवचन समय में भी बडी भीड़ रहती थी। लोग ज्ञान के पिपासु थे और धर्म के जिज्ञासु थे। ज्ञान से वे कभी सन्तुष्ट नहीं हुए और जिज्ञासा से वे कभी विमुख नहीं हुए। जिस युग का यह प्रसंग चल रहा है यह युग ईसा से छह सौ वर्ष पूर्व भगवान् महावीर का युग था। यह वह चिर-स्मरणीय, अनुगमनीय एवं अनुचरणीय युग था जिसमें भगवान् महावीर हमारे समान मानवीय शरीर को धारण करते हुए अपनी पावन चरण-रज से इस धराधाम को धन्य बना रहे थे। महापुरुष जहां अपने चरणो का न्यास करते हैं वही स्थान तीर्थ बन जाता है। उनकी मधुर एवं सारगर्भित गिरा में अमरता का सन्देश होता है। वे जिस ओर

मुड़ते हैं, युग उसी ओर मोड़ ले लेता है। वे रुक जाते हैं तो युग की गति रुक जाती है। वे चलते हैं तो युग आगे गतिशील हो जाता है। युग उनका नहीं किन्तु वे युग का निर्माण करते हैं। यही कारण है कि संसार के लोग उनको युग-पुरुष कहते हैं, युग-स्रष्टा कहते हैं और युग-द्रष्टा कहते हैं।

भगवान् महावीर को भी हम युग-पुरुष, युग-स्रष्टा और युग-द्रष्टा मानते हैं। सर्वज्ञावस्था में उन्हें भगवान् की उपाधि से अलंकृत करते हैं। चौबीसवें तीर्थंकर मानते हैं। अनेक नगरों और गावों में से पैदल विहार करते-करते भगवान् महावीर पोलासपुर नगरी के 'श्रीवन' नामक उद्यान में पधारे। गणधर मुनि गौतम समेत सैकड़ों शिष्य भगवान् के साथ थे। भगवान् के प्रवचन की सूचना पाकर सहस्रों नर-नारी उनके समवसरण (धर्म-सभा) में एकत्रित हो गए। भगवान् का प्रवचन हुआ और सबने मंत्रमुग्ध होकर सुना। पोलासपुर नगरी में बड़ी धूमधाम थी। सारी नगरी को भगवान् के आने की सूचना पाकर पहले ही सजा दिया गया था। भगवान् के प्रवचन के पश्चात् 'गोचरी' (जैन सन्तों की आहार ग्रहण करने की पद्धति, जिसके अनुसार श्रद्धालु श्रावकों के घरों से वे गौ के समान थोड़ा-थोड़ा आहार लेकर ही निर्वाह करते हैं, गौ भी वैसे ही कुछ घास इस स्थल से और कुछ दूसरे स्थल से खाकर पेट भरा करती है) करने के लिये गणधर इन्द्रभूति गौतम नगर-पथ पर निकले। इन्द्रस्थान पर क्रीड़ा करते हुए कुछ बालकों ने उन्हे आते देखा। इन बालकों में अतिमुक्तक राजकुमार भी था। वह राजा विजयसेन के सिंहासन का उत्तराधिकारी युवराज था। यद्यपि अभी बालक ही था किन्तु 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' जो बालक होनहार होते हैं उनके शुभ लक्षण बचपन में ही दृष्टिगोचर होने लगते हैं। अतिमुक्तक कुमार यद्यपि बच्चों के साथ खेलने में व्यग्र था किन्तु उसकी दृष्टि बड़ी पैनी थी और उसका ध्यान सर्वतोमुखी था। उसने इन्द्रभूति गौतम को एक घर से दूसरे, दूसरे से तीसरे आदि में आहार के लिये जाते देखा। गौतम गणधर का व्यक्तित्व बड़ा ही प्रभावशाली, शोभाशाली और आकर्षण का केन्द्र था। उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर लोग बलात् उनकी ओर खिंचे आते थे। ठीक वैसे ही जैसे चुम्बक की ओर धातु खिंचे चले

आते हैं और पृथ्वी की ओर आकाश में फेंके गये पार्थिव पदार्थ खिंचे नीचे चले आते हैं। गणधरों का व्यक्तित्व सहज रूप में ऐसा ही होता है। प्रतिभाशाली अतिमुक्तक कुमार भी व्यक्तित्व से प्रभावित होकर, खेल छोड़कर इन्द्रभूमि गौतम के पास आकर खड़ा हो गया और बालसुलभ प्रश्न पूछने लगा :

"तुम कौन हो ? तुम्हारा घर-घर में अटन का क्या कारण है ?"

"हम तो श्रमण सन्त, निर्ग्रन्थ है, हमारी आचार-संहिता के अनुसार हमें इसी प्रकार घर-घर घूमकर यत्किंचित् आहार लेना होता है।"

गौतम स्वामी ने उत्तर दिया।

अतिमुक्तक कुमार ने गौतम स्वामी की अंगुली पकड़ ली, आखिर बालक ही तो था, और कहने लगा :

"यदि ऐसी बात है तो चलो मेरे साथ, मैं आपको अपने घर भिक्षा दिलाता हूं।"

अगुली पकड़े हुए अतिमुक्तक कुमार गौतम स्वामी को राजमहल में ले गया। गौतम स्वामी को देखते ही राजा विजयसेन अपने सिंहासन से उठ गया और उसके पास ही सुवर्ण-पीठ पर बैठी श्री रानी भी खड़ी हो गई। दोनों ने हाथ जोड़कर सन्तों को सविधि वन्दना की, सुख-साता पूछी, दर्शन करके अपना अहोभाग्य व्यक्त किया और राजकुमार की बुद्धि की बडी सराहना की। कितनी श्रद्धा से, प्रेम से, उत्साह से, उत्कठा से और उल्लास से राजा विजयसेन एव रानी 'श्री' ने सन्तों को आहार बहराया—यह सारा दृश्य अतिमुक्तक कुमार बड़े ध्यान से देख रहा था। वह सोच रहा था :

"क्या ये श्रमण सन्त इतने महान् है कि जिनके लिये मेरे पिता महाराजाधिराज ने इन्हे देखते ही अपना सिंहासन छोड़ दिया और मेरी माता भी सुवर्णपीठ छोड़कर खडी हो गई। दोनों ने हाथ जोड़कर सविधि वन्दना की। नि.सन्देह ये कोई असाधारण पहुंचे हुए सन्त प्रतीत होते हैं। अरे हां, सारी राजधानी भी तो इनके सत्कार, सम्मान एवं स्वागत के लिये इनके आने से पूर्व ही सुसज्जित कर दी गई थी। स्त्री-पुरुषों के झुण्ड के झुण्ड इनके दर्शनों के लिये बाज़ारों और गलियों में जाते दिखाई दे रहे थे। सामान्य व्यक्ति के लिये इतना कौन करता

है ? जहां वे सन्त ठहरे हुए हैं, वह स्थान मुझे भी तो देखना चाहिये। इनका प्रवचन भी तो सुनना चाहिये, यह जानने के लिये कि वे कैसी शिक्षा देते हैं श्रोताओं को। अवश्य ही कोई सारगर्भित ज्ञान की बात कहते होंगे। तभी तो इतने नरनारी अधिक जिज्ञासा की भावना से खिंचे चले आते हैं।"

गौतम स्वामी जब राजमहल से गोचरी लेकर प्रस्थान करने लगे तो अतिमुक्तक कुमार उनके समीप आकर बोला :

"आप कहां रहते हैं और क्या करते हैं।" उत्तर में गौतम स्वामी ने कहा :

"हम भगवान् महावीर के शिष्य हैं। कोई एक निश्चित स्थान हमारे रहने का नहीं है। केवल चातुर्मास में अधिक हरियाली के कारण और जीवों की असंख्य उत्पत्ति के कारण जीव-हिंसा के भय से एक स्थान पर टिक जाते हैं किन्तु आठ मास तक तो हम ग्राम-ग्राम, नगर-नगर में भगवान् महावीर के सिद्धान्तों का प्रचार करते हुए विचरते रहते हैं। आत्म-कल्याण के लिये या निःश्रेयस् की प्राप्ति के लिये कठिनतम परीषहों को जीतना, और श्रावकों को इसका उपदेश देना, नि.श्रेयस् के सच्चे पथिक बनने के लिये पूर्वजन्मार्जित एवं इहलौकिक कर्मों का क्षय करना और दूसरों को ऐसा करने की शिक्षा देना हमारा काम है। जो सांसारिक पाप-परिणाम-भूत दुःखों से परेशान हैं, उन पर करुणा करना, दया करना, भी हमारा काम है, ऐसे लोगों को हम पाप के मार्ग का परित्याग करने का उपदेश देते हैं। गिरों को ऊंचा उठाना, ऊंचों की सन्मार्ग में प्रवृत्ति कराना भी हमारा काम है। बड़ी सावधानी से हम पंच महाव्रतों का पालन करते हैं और श्रावकों को भी पंच महाव्रत पालन का उपदेश देकर इस सन्मार्ग की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं। जो हम पर क्रोध करता है, हम उस पर करुणा करते हैं और जो हमें यातना देता है उसको हम दया की दृष्टि से देखते हैं। बदले में किसी को दण्ड नहीं देते, उसका विरोध या प्रतिकार नहीं करते किन्तु धैर्यपूर्वक उस कष्ट को सहन कर लेते हैं। कोई हमें अपशब्द कहता है तो हम उसकी अज्ञानता पर मुस्करा देते हैं। संसार में सभी प्रकार के प्राणी हैं, सबसे सम्मान की कभी भी आशा नहीं की जा सकती। हम निर्ग्रन्थ कहलाते हैं, गांठ बांधकर

परिग्रह के रूप में कुछ भी नहीं रखते। जैसा हमारी आचार संहिता के अनुसार शुद्ध अन्न, जल, वस्त्रादि हमें श्रावकों के घरों से उपलब्ध हो जाता है, उसी से हम अपना निर्वाह कर लेते हैं। अधिक की अभिलाषा नहीं करते और कम पर पश्चाताप नहीं। न भी मिले तो अनुताप नहीं। इस प्रकार हमारा सारा जीवन तपश्चर्यामय व्यतीत होता है। हम अपने गुरु भगवान् महावीर के साथ इस नगरी के श्रीवन नामक उद्यान में ठहरे हुए हैं।"

गौतम गणधर के मुख से उक्त भावपूर्ण, विद्वत्तापूर्ण एवं गंभीर चिन्तन की बातें सुनकर अतिमुक्तक कुमार के आनन्द का ठिकाना न रहा। उसका कुतूहल गौतम स्वामी की बातों से अधिकाधिक बढता ही जा रहा था। राजकुमार ने गौतम स्वामी से कहा :

"आपके गुरु भगवान् महावीर स्वामी के मैं भी दर्शन करना चाहता हूं। क्या आप मुझे उनके चरणों में ले चलेंगे ?

"क्यो नहीं, तुम मेरे साथ चल सकते हो। भगवान् के दर्शन सबके लिये सुलभ हैं। वहां किसी भी प्रकार की रुकावट नही है।"

अतिमुक्तक बड़ा प्रसन्न हुआ और गौतम स्वामी के साथ चल दिया। राजकुमार को सन्तो के साथ जाते देख कर राजा-रानी भी बड़े हर्षित हुए। राजा ने रानी से कहा :

"अच्छी बात है, सन्तों का सत्संग करने से कुछ अच्छे संस्कारों की ही तो नींव पड़ेगी।"

रानी ने भी राजा की बात का अनुमोदन किया। थोड़े ही समय में अतिमुक्तक राजकुमार गौतम स्वामी के साथ श्रीवन नामक उद्यान में पहुंच गये। वहां जाकर उन्होने उसी प्रकार भगवान् महावीर को सविधि वन्दना की जैसे उसके माता-पिता ने राजमहल में सन्त गौतम को की थी। तत्पश्चात् वे भगवान् के चरणों में बैठ गये।

जैन सन्तों की आचार-संहिता के अनुसार जब सन्त गोचरी के रूप में आहार लेकर लौटते हैं तो सर्वप्रथम उन्हें वह सारा आहार गुरु को दिखाना पड़ता है। इस प्रक्रिया का रहस्य यही हो सकता है कि गुरु यह देखले कि कोई वस्तु ऐसी तो आहार में नहीं आ गई है जो उनकी पद्धति के विपरीत हो। गौतम स्वामी ने सारे आहार के पात्र सर्वप्रथम गुरु को दिखाये, तत्पश्चात् आहार करना आरम्भ। किया

अतिमुक्तक कुमार इस पद्धति से भी बड़ा प्रभावित हुआ। वह सारी प्रक्रिया बड़े ध्यान से देख रहा था।

इसके पश्चात् भगवान् महावीर ने उस बालक को स्वयं धर्मोपदेश दिया। संसार में महापुरुष बड़े-छोटे का ध्यान नहीं करते, उनके पास तो बाल से वृद्ध तक सभी के लिये समता की भावना होती है। फूलों को बालक, नवयुवक और वृद्ध कोई भी हाथ में ले ले, वे तो सभी के हाथ को सुगन्धित करते हैं। बालक को ज्ञान देना अधिक हितकारी होता है क्योंकि उसकी बुद्धि संसार के विषयों से अनभिज्ञ होती है। इसलिये उसमें अच्छे से अच्छे संस्कारों की नींव डाली जा सकती है। भगवान् महावीर तो सर्वज्ञानी थे। उन्होंने बालक के शुभ लक्षणों से ही जान लिया था कि बालक श्रमण-शासन की सेवा करने वाला है। जो जीव संसार रूपी सागर को अपने शुभ-कर्मों द्वारा तैर कर पार करना चाहते थे, उनके लिये तो भगवान् साक्षात् सेतु थे। किसी विद्वान् ने ऐसे महामानवों की ठीक ही प्रशंसा करते हुए लिखा है :

> जयन्ति जितमत्सराः परहितार्थमभ्युद्यताः,
> पराभ्युदयसुस्थिताः परविपत्तिखेदाकुलाः।
> महापुरुषसत्कथाश्रवणजातकौतूहलाः,
> समस्तदुरितार्णवप्रकटसेतवः साधवः॥

सु०र०भा०, पृष्ठ, ५२, श्लोक २२५

अर्थात्—ऐसे सन्त जिन्होंने ईर्ष्या की भावना पर विजय प्राप्त करली है, जो दूसरे प्राणियों का उपकार करने के लिए सदा उद्यत रहते हैं, दूसरों की उन्नति में जिन्हें प्रसन्नता होती है, किसी को कष्ट और विपत्ति में देखकर जो व्याकुल हो जाते हैं, महापुरुषों की मधुर एवं शिक्षा-प्रद कहानियों को सुनकर जो आश्चर्यचकित रह जाते हैं और संसार के पापरूपी समुद्र को तैरने के लिये जो पुल का काम देते है, ऐसे महामानवों की सदा जय हो।

भगवान् महावीर ने अब तक अपने प्रवचनों द्वारा असंख्य प्राणियों को सेतु बन कर संसार के पापों से और दुःखों से बचाया था। जिस जीव के पुण्यों का उदय होता था वह ही उनकी सेवा में उपस्थित होता था। राजकुमार अतिमुक्तक बड़ा पुण्यवान् था जो आकस्मिक अवसर पाकर उनके चरणों में उपस्थित हो गया था। या यों कहो कि उसके

पुण्य उसे भगवान् के चरणों में खींच कर लाये थे। भगवान् के उपदेश को सुनकर अतिमुक्तक बड़ा प्रभावित हुआ। अब तक उस पर सबसे बड़ा प्रभाव उसके माता-पिता का था किन्तु भगवान् के व्यक्तित्व का प्रभाव उससे भी कहीं आगे बढ़ गया। उसने भगवान् से कहा :

"हे देवानुप्रिय! मैं माता-पिता से आज्ञा लेकर आपकी सेवा में दीक्षित हो जाऊंगा।"

वह भगवान् के द्वारा दी गई वैराग्य की शिक्षा के रंग में रंग गया। या यों कहना चाहिये कि उसके पूर्व जन्म के शुभ-संस्कार स्फुरित हो गये। 'इतने अल्प समय में किसी के व्यक्तित्व के रंग में रंग जाना और राज्य के प्रलोभनों की उपेक्षा कर देना', यह सब अनेक पूर्वजन्मार्जित संस्कारों का ही परिणाम हो सकता है। भगवान् ने अतिमुक्तक कुमार की वैराग्य की भावना जानकर कहा :

"शुभ काम में शिथिलता नहीं करनी चाहिये। तुम अपने माता-पिता के पास जाओ और उनसे आज्ञा लेकर आओ। बिना माता-पिता की आज्ञा के हमारे पास तुम्हारा दीक्षित होना सम्भव नहीं है। नवागन्तुक वैरागियों के लिये हमारी आचार-पद्धति का यही विधान है।"

भगवान् की बात सुनकर अतिमुक्तक कुमार अपने माता-पिता की सेवा में उपस्थित हुआ और उनसे भगवान् के चरणों में अपनी दीक्षित होने की भावना को व्यक्त किया। कोई अन्य माता-पिता होते तो अपने इकलौते बालक के मुख से वैराग्य की बात सुनकर शोकाकुल हो जाते, व्याकुल हो जाते, चिन्तातुर हो जाते और मूर्छित भी हो जाते किन्तु राजा विजयसेन और उनकी रानी पर युवराज के कथन का कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ा। वे बालक से बोले :

"अरे! अभी से वैराग्य की बात, धर्म की बात, ज्ञान की बात और संसार त्याग की बात। अभी तो तुम बालक हो, अबोध हो, धर्म से अनभिज्ञ हो, अपेक्षित ज्ञान से हीन हो और वैराग्य की कठिनाइयों से अपरिचित हो। अच्छा बताओ तो भला कि धर्म नाम का तत्व किसे कहते हैं?"

"निःसन्देह मैं बालक हूं, अबोध हूं, धर्म के गंभीर ज्ञान से अनभिज्ञ हूं, सम्यग् ज्ञान की गहराई से भी अपरिचित हूं और वैराग्य की कठिनाइयों को भी नहीं जानता हूं किन्तु मैं जिस धर्म को जानता हूं वह यह है, "मैं जिसको जानता हूं, उसको नहीं जानता, और जिसको नहीं

जानता हूं, उसको जानता हूं ।"

अतिमुक्तक ने अपने पिता विजयसेन से कहा ।

"अरे तुम तो विरोधी वचन बोलते हो । संभवतः जैसे और बालक बे-सिर-पैर की बात कर दिया करते हैं, ऐसे ही तुमने अज्ञानता-वश ऐसा कह दिया है ।"

राजा ने अतिमुक्तक से पूछा ।

"नहीं, मैंने असत्य नहीं कहा, जो कुछ कहा है, वह अक्षरशः सत्य है । मैं भली-भांति जानता हूं कि जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु निश्चित है किन्तु उसकी मृत्यु किस प्रकार एवं कब होती है, यह नहीं जानता । मैं यह नहीं जानता हूं कि किन अर्जित कर्मों के कारण जीव जाकर चार गतियों में जन्म लेता है, परन्तु यह अवश्य जानता हूं कि निज कर्मों के परिणामस्वरूप ही जीव को चार गतियों में जन्म लेना पड़ता है ।" बिना माता-पिता की आज्ञा से प्रव्रजित होने की आज्ञा नही मिल सकती, ऐसा धर्म संहिता का विधान है, अतः आप मुझे आज्ञा देने की कृपा करें जिससे मैं भगवान् महावीर के चरणों में दीक्षित हो सकूं ।"

अतिमुक्तक ने बड़ी उत्कंठा से अपने पिता से दीक्षित होने की आज्ञा को स्वीकृति देने की प्रार्थना की ।

राजा ने और रानी ने वैराग्य के कष्टकपूर्ण मार्ग की अनेक कठिनाइयों के, साधु-मार्ग के परीषहों के, साधु-मार्ग की कठोरतम आचार-पद्धति के पालन के क्लेशों के, लोच की रोमहर्षक वेदना के, जीवन भर कांटों पर, कंकरों पर, अतिसतप्त बालुका के कणों पर और टेढ़ी मेढ़ी पगडंडियों पर चलने के; सरदी की शीत लहर में, गर्मी के लू के झोंकों में विहार के; कई बार आहार की प्राप्ति न होने से क्षुधा-पीड़ित अवस्था के, अनेक बार निवासगृह की सुविधा के अभाव में तीखी सरदी के समय और भयानक ग्रीष्म में वृक्ष के नीचे निवास के दुःख के; आजीवन संयम पालन के, रात्रि-भोजन, स्नान, शृंगार और पंखे की वायु के त्याग के; दन्त धावन, शरीर प्रसाधन और पैरों में जूती के परित्याग के; मच्छर, सांप तथा अनेक प्रकार के जहरीले जानवरों के काटने पर अव्यग्र मन रहने के; पंचेन्द्रियों के प्रलोभनकारी भिन्न-भिन्न विषयों के परित्याग के आदि अनेक प्रकार

प्रकार के संकटों का राजकुमार अतिमुक्तक के सामने विवरण प्रस्तुत किया जिससे वह वैराग्य-पथ से विमुख होकर घर में ही रहे और भविष्य में राज्य शासन चलाए, परन्तु भगवान् महावीर द्वारा जागृत किये गये अतिमुक्तक राजकुमार के पूर्व जन्मार्जित संस्कार भला माता-पिता द्वारा वर्णित वैराग्य पथ की विषमताओं के विवरण से फीके पड़ने वाले कहां थे। राजकुमार की धारणा पर्वत के समान दृढ़ थी। उस पर वैराग्य के मार्ग की कठिनाइयों के विवरण का कोई असर नहीं पड़ा।

राजा और रानी को यह विश्वास हो गया कि युवराज अपनी भावना से तनिक भी टस से मस होने वाला नही है और उसे आज्ञा देनी ही पड़ेगी। राजा ने कहा :

"अतिमुक्तक ! जब तुम्हारा जन्म हुआ था उस समय हमारे मन में यह भावना आई थी कि हम तुम्हे राज्य-सिंहासन पर अभिषिक्त कर राज्य-शासन-कर्ता के रूप मे देखे। अब यदि हम तुम्हे प्रव्रज्या लेने की आज्ञा दे देते हैं, तो हमारी वह अभिलाषा अपूर्ण रह जायेगी। क्या तुम हमारी अभिलाषा को पूर्ण करने के लिये एक दिन भी राज्य सिंहासन को अलंकृत करके हमें राज्य करके नही दिखा सकते।"

"राजकुमार पिता के वचन सुनकर मौन हो गया।"

'मौनं स्वीकृति लक्षणम्।'

मौन तो स्वीकृति का लक्षण होता है। राजा को निश्चय हो गया कि राजकुमार को उसकी अभिलाषा-पूर्ति स्वीकार है।

राजा विजयसेन ने बड़ी धूम-धाम से राजकुमार अतिमुक्तक को राज्य-सिंहासन पर अभिषिक्त किया। इस समारोह में भाग लेने के लिये आस-पास के राजा, सामन्त और मन्त्री सम्मिलित हुए। सभी आश्चर्यचकित थे कि राजा विजयसेन अपनी युवावस्था में ही सिंहासन का परित्याग करके अपने अल्पायु राजकुमार को अभिषिक्त क्यों कर रहे हैं। यह रहस्य केवल मात्र राजा-रानी और राजकुमार को ही ज्ञात था। परन्तु यह रहस्य के रूप में नहीं रह सका। राज्य-सिंहासन पर बैठते ही राजकुमार ने देखा कि उसको सभी लोग आशातीत

सम्मान दे रहे हैं। राजनीति की पद्धति के अनुसार सिंहासन पर अभिषिक्त राजा को अभिषेक के पश्चात् यह पूछा जाता है :

"आप आज्ञा दीजिये किसी कार्य विशेष की, जिसका संपादन अभी किया जाये।"

इसके उत्तर में अभिषिक्त राजा ने कहा :

"मेरी पहली यही आज्ञा है और अभिलाषा है कि मैं भगवान् महावीर के चरणों में दीक्षित होने जा रहा हूं, खजाने से धन निकाल कर दीक्षा की तैयारी आरम्भ कर दी जाये। इसमें किसी भी प्रकार की शिथिलता नहीं होनी चाहिये। दो लाख सुवर्ण मुद्राएं पात्रों के लिये और एक लाख सुवर्ण मुद्राएं नाई के लिये खजाने से निकाल ली जाएं।"

राजकुमार अतिमुक्तक की आज्ञा का पालन किया गया। बड़ी धूम-धाम और साज-सज्जा के साथ दीक्षा से पूर्व राजकुमार की शोभायात्रा राज-पथ और नगर की गलियों में से निकली और तत्पश्चात् शोभा यात्रा की समाप्ति 'श्रीवन' नामक उद्यान में हुई जहां भगवान् महावीर अपने पट्टधर गणधर गौतम तथा अन्य सैंकड़ों शिष्यो के साथ विराजमान थे। इसी उद्यान में भगवान् महावीर के पास अतिमुक्तक राजकुमार दीक्षित हुए। दीक्षा के पश्चात् उनके आध्यात्मिक ज्ञान का पठन, पाठन एवं श्रवण आरम्भ हो गया। अतिमुक्तक राजकुमार का यह अन्तिम भव था। वे इसी भव में मोक्ष प्राप्त कर गये थे।"

वैराग्य बीज का अंकुरण

कुसुम्बा की बगल में बैठा चोला राजकुमार अतिमुक्तक की कथा स्वामी नथमलजी महाराज के मुखारविन्द से बड़ा ही दत्तचित्त होकर ध्यान लगाकर सुन रहा था। वह उस कथा के सार से और स्वामीजी के कथा-कथन के प्रभावशाली प्रसार से और रोचक शैली से बड़ा प्रभावित हुआ और सोचने लगा :

"अतिमुक्तक तो राजकुमार था, उसको तो जीवन की सभी विलास की वस्तुएं सरलता से सुलभ थीं, राज्य-सिंहासन का भी कितना आकर्षण था, राजपाट की शान कितनी प्रलोभनपूर्ण थी, शासन और अधिकार का लोभ कितना मोहक था, सर्वतोमुखी सम्मान का

सुख कितना रोचक था, राजदंड का अखंड अधिकार भी कितना गर्व-गरिमान्वित था, अनुजीवियो द्वारा की जाने वाली चापलूसी भी कम आकर्षण-युक्त नही थी और खजाने, लक्ष्मी तथा सेना की शक्ति भी कम महत्व की नही थी, किन्तु अतिमुक्तक राजकुमार को किसी प्रकार का भी सांसारिक प्रलोभन आत्म कल्याण के मगलकारी मार्ग से विचलित नही कर सका। इतना प्यार करने वाले माता-पिता के मोह को भी उसने तुरन्त त्याग दिया। मेरी स्थिति तो अतिमुक्तक के सामने सर्वथा तुच्छ है। पहले पिता चले गये, मेरा सारा उत्तरदायित्व माता पर छोड़ कर और फिर माता भी पिता के वियोग में चिरकाल तक जीवित न रह सकी और मेरे भावी जीवन का सारा भार कुसुम्बा मां पर छोड गई। ठीक है, घर की आर्थिक स्थिति सदा सन्तोषजनक ही रही है किन्तु अतिमुक्तक राजकुमार की तुलना मे तो वह नगण्य है। माता-पिता की मृत्यु को अपनी आखों से देखने वाले मेरे जैसे प्राणी के मन में ससार की नश्वरता का यदि भाव आये तो वह स्वाभाविक भी है किन्तु अतिमुक्तक कुमार के सामने तो कोई भी ऐसी परिस्थिति नही थी, उसके मन में भी भगवान् महावीर के उपदेश को सुनकर वैराग्य की भावना का जन्म हो गया था। तो क्या मै अपने पूर्वभवो से अच्छे सस्कार लेकर नही आया हू कि मैं प्रव्रज्या लेकर अपना आत्मकल्याण कर सकू ? अतिमुक्तक को तो रोकने वाले उसके माता-पिता थे, मुझे तो रोकने वाला भी कोई नही है। अतिमुक्तक को दीक्षा से रोकने का कितना प्रयास किया गया किन्तु वह दृढ़निश्चय था, उस पर रोकने की युक्तियो का कुछ भी प्रभाव नही पड़ा। मुझे भी दीक्षित होने का और दीक्षित भी इन्ही सन्तों की सेवा मे होने का दृढनिश्चय कर लेना चाहिये। मेरा भाई और भाभी मुझे नही रोकेंगे और कुसुम्बा-मा तो मेरे इस कार्य में सहायक बनेगी क्योंकि वह तो मुझे सदा ऐसी ही कहानियां सुनाती रही है जो वैराग्य की भावनाओ से ओत-प्रोत होती थी। वे तो यह भी कह रही थीं कि वे आत्माए बडी ही पुण्यवान् होती है जो सासारिक झगडों का त्याग करके दीक्षित होकर आत्मकल्याण की ओर अग्रसर होती हैं। मैं भी इस पथ का पथिक बनूंगा और आत्म कल्याण करूंगा।"

दीक्षा का दृढ़-निश्चय

व्याख्यान समाप्त होते ही सब श्रावक स्वामीजी नथमलजी महाराज की विद्वता की, त्याग की, ज्ञान की महत्ता की, अतिमुक्तक कुमार के संसार-त्याग की और उसी जन्म में उसकी मोक्ष प्राप्ति की चर्चा करते हुए अपने-अपने घरों में वापिस लौट गये और चोला कुसुम्बा के साथ उसके घर पहुंच गया। घर आकर कुसुम्बा ने कहा :

"क्यों बेटे चोले ! कैसा था महाराज साहब का व्याख्यान ? पसन्द आया क्या तुम्हे ? बड़े पहुंचे हुए सन्त हैं, कितने मन्त्र-मुग्ध से होकर सुन रहे थे श्रावक उनके प्रवचन को। अतिमुक्तक राजकुमार की वैराग्य भावना का भी क्या सुन्दर दृष्टान्त दिया था उन्होने। जीव चाहे राजा के, चाहे रंक के, किसी के घर में भी जन्म ले ले किन्तु पूर्वभव के संस्कार उसे जिस ओर प्रेरित करते हैं वह निश्चित रूप से उसी ओर बढ़ता है। जीव इसके लिये विवश होता है। कुछ वर्ष पूर्व, एक यहां और सन्त आये थे, उस समय मैं पारी को भी उनका भाषण सुनाने के लिये ले गई थी। वे कहते थे कि, 'संस्कारों की शक्ति महान् होती है, वह शक्ति जीव को ऐसे ही उड़ाकर अनुकूल दिशा की ओर ले जाती है जैसे प्रचण्ड वायु तिनके को उड़ाकर ले जाती है।' साधु-मार्ग की अपने पिता के द्वारा वर्णित कष्ट परम्परा को सुनकर भी अतिमुक्तक कुमार का मन वैराग्य-पथ से विपरीत नही गया। जाता भी कैसे, यह तो उसके पूर्वभव के संस्कारों का परिणाम था। वह तो उसके कर्म क्षय का अन्तिम भव था। उसी भव में वह मोक्षगामी भी हुआ। तुम्हें कैसी लगी, बेटे ! अतिमुक्तक कुमार की कथा ?"

"बहुत ही अच्छी लगी। मैं मुनिराज के व्याख्यान से बहुत ही प्रभावित हुआ हू। मैं अतिमुक्तक राजकुमार की समानता तो नही करता क्योंकि राजसिंहासन का स्वामी होते हुए भी उसने महान् त्याग किया था, आत्म कल्याण के मार्ग पर कदम रखने के लिये, परन्तु जहां तक वैराग्य की भावना का सम्बन्ध है, मेरी वैराग्य लेने की भावना भी उतनी ही दृढ़ है जितनी अतिमुक्तक कुमार की थी। अतिमुक्तक का वह अन्तिम भव था वह मोक्ष में चला गया, मेरा

यह कौन-सा भव है, इसका ज्ञान तो मुझे नहीं है। मैं निश्चित रूप से स्वामीजी नथमलजी महाराज के चरणों में दीक्षा लूगा। आप मेरी बड़ी अच्छी मा हैं, मेरी इस शुभ आत्म-कल्याण के काम में पूरी सहायता करेगी, इसकी मुझे पूर्ण आशा है। वैराग्य के बीज तो आपने पहले ही मेरे मन मे बो रखे है, अब उन्हें अंकुरित, पल्लवित पुष्पित और फलित होते देखकर क्या आपके मन में उल्लास नही होगा ?"

चोले ने बडे विनम्र परन्तु दृढ़ शब्दो में कुसुम्बा के प्रश्नों का उत्तर दिया।

कुसुम्बा ने चोले के चित्त की गहराई तक पहुंचने के लिये कहा :

"परन्तु बेटे ! तुम तो अभी किशोर हो, साधु-मार्ग की कठिनाइयों से सर्वथा अपरिचित हो, धर्म के तत्व से अनभिज्ञ हो और कष्ट-सहिष्णुता की शक्ति से रहित हो। तुम कैसे इस दुर्गम-पथ पर चल सकोगे ? मुझे तो इसमें सन्देह है।"

"अतिमुक्तक तो आयु मे मुझ से भी छोटा था, तभी तो वह गणधर गौतम की अंगुली पकड़ कर उनको महल मे ले गया था, वह भी साधु मार्ग की कठिनाइयों से सर्वथा अपरिचित था, कष्ट-सहिष्णुता की शक्ति उसमें सर्वथा अविद्यमान थी क्योंकि वह तो राजकुमार था, फिर उसने सब कुछ कैसे त्याग दिया था ? मुझे आत्म-कल्याण के निमित्त कष्टो की कोई चिन्ता नही है, मैं अवश्य दीक्षा लूगा।

चोले ने दृढ़तापूर्ण वाणी मे उत्तर दिया।

कुसुम्बा को यह पूर्ण विश्वास हो गया कि चोला अब दीक्षित होने के लिये पूर्णरूप से प्रस्तुत है। मैं जो उसमे आज तक बहुत दिनों से वैराग्य के बीज बोती आ रही हूं वे अकुरित हो गये है। पारी ने मृत्यु के समय जो मुझसे कहा था वह उसकी अभिलाषा मैंने पूर्ण कर दी है। सन्तों को चोले के बहराने की जो बात है वह भी पूरी कर दूगी। ऐसा करके मैं पारी का और चोले का ही उपकार नही करूगी किन्तु स्वयं के लिये भी शुभ-कर्म बान्धने का यह प्रयत्न है। कल प्रवचन के पश्चात् मैं स्वामीजी नथमलजी महाराज के पास चोले को बहराने की बात करूगी और यह भी कहूंगी कि यह बालक आपके कल के प्रवचन से, जिसमें आपने अतिमुक्तक राजकुमार के प्रव्रजित होने का प्रसंग

सुनाया, इतना प्रभावित हो गया है कि आपके चरणों में ही दीक्षित होना चाहता है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि स्वामी जी इस बात को सुनकर बड़े प्रसन्न होंगे। इस बालक को स्वीकार कर लेंगे और दीक्षा की आज्ञा दे देंगे। चोले के जीवन का उद्धार हो जायेगा और इससे इसके कुल का नाम भी रोशन होगा।

बिना आज्ञा अस्वीकृति

इस प्रकार की धारणा कुसुम्बा के मन में आई। अगले दिन चोला को साथ लेकर कुसुम्बा स्वामीजी नथमलजी महाराज की सेवा में पहुंची और उनके सामने बालक के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली उसकी सारी कहानी सुनाई। चोले के पिता की प्रतिज्ञा, उसकी माता की अन्तिम अभिलाषा, और वैराग्य के संस्कार डालने के लिये उसे उसके हाथों में सौंपना और चोले की माता को उसके (कुसुम्बा) के वचन कि स्वामीजी नथमल जी महाराज जब यहां आयेंगे तो उन्हें चोले को बहरा देगी—आदि-आदि सभी बातों का विवरण उसने स्वामीजी को सुनाया।

स्वामीजी नथमल जी महाराज तो बड़े क्रियावान् और विवेकशील सन्त थे। वे इसप्रकार दीक्षा के लिये लाये गये किसी भी बालक को कैसे स्वीकार कर सकते थे। उन्होंने कहा :

"हमारी आचार-प्रणाली के अनुसार जब तक लड़के के माता-पिता या सगे-सम्बन्धी उसे दीक्षित करने की आज्ञा नही दे देते तब तक हम उसे स्वीकार नही किया करते। इसलिये तुम बालक को वापिस ले जाओ और इसके माता-पिता यदि नहीं हैं तो इसके भाई को आज्ञा के लिये साथ लाओ, तभी हम इसे वैरागी के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।"

कुसुम्बा चोले को साथ लेकर चल दी और मार्ग में चलते-चलते सोचने लगी :

"धन्य हैं ऐसे सन्त जिनको चेले की तृष्णा नहीं किन्तु अपनी आचार-प्रणाली की अधिक चिन्ता है। ऐसे महान् आत्मा ही वास्तव में अपना और दूसरों का कल्याण कर सकते हैं। मैंने तो ऐसे भी अनेक सन्त देखे हैं जो चेलों के लिये तरसते हैं और चेला बनाते समय यह भी नही सोचते कि जिसे वे वैरागी बना रहे हैं, वह वैराग्य का पात्र

भी है या नहीं। ये सन्त वास्तव में सन्तात्मा हैं, तभी तो इनके आगमन की बात को सुनकर इनके दर्शनों के लिये इतनी जनता टूट पड़ती है।"

परिजन-आज्ञा-प्राप्ति

कुसुम्बा चोले को लेकर घर पहुंची और हरदेवा से चोले के दीक्षित होने की आज्ञा मागी और यह बात भी बता दी कि बिना सगे-सम्बन्धियों की आज्ञा के स्वामीजी नथमल जी महाराज किसी को भी अपने पास दीक्षित नहीं करते। यह तो उनकी आचार-प्रणाली है, वे इसके विपरीत कभी नही जा सकते।

हरदेवा को चोला के विषय मे मा की प्रतिज्ञा की सूचना का पता माता की मृत्यु के कुछ दिन पश्चात् ही चल गया था, इसलिये उसे तो स्वीकृति देने मे संकोच नही था किन्तु उसने कहा :

"मुझे और भी अपने सगे-सम्बन्धियों तथा समीप के रिश्तेदारों से पूछ लेने दो, जिससे बाद मे किसी का उलाहना न आ सके, कोई यह न कहने लगे कि सारी सम्पत्ति को अकेले हड़पने के लिये हरदेवा ने चोले को, जो अभी बेसमझ बालक ही था, वैरागी बना दिया।"

कुसुम्बा उसकी बात सुनकर अपने घर चली गई और चोला भी उसके पीछे-पीछे चल दिया। चोला की ममता कुसुम्बा के साथ इतनी बढ़ गई थी कि वह अपने घर की अपेक्षा उसके पास रहना अधिक पसन्द करता था।

इस अन्तराल में स्वामीजी नथमल जी महाराज ने पीपलिया से बिहार कर दिया और वे बांसिया होते हुए चंडावल पधार गये।

इधर जब कुसुम्बा हरदेवा के घर अगले दिन पहुंची तो वह तब तक अपने सब सगे-सम्बन्धियों से चोला की स्वामीजी नथमल जी महाराज साहब के पास दीक्षा के विषय में विचार विमर्श कर चुका था और सब की स्वीकृति पा चुका था। कतिपय लोगो ने इसका विरोध भी किया था किन्तु समझदार और विवेकवान पुरुषों ने उन्हे समझाकर शान्त कर दिया था कि शुभकामों मे विघ्न डालना कभी भी हितकर नहीं होता।

चोला से बात

कुसुम्बा चोला को, हरदेवा को और अन्य गण्यमान्य सम्बन्धियों

को साथ लेकर स्वामीजी की सेवा में बंडावल गांव में पहुंची । कुसुम्बा की प्रार्थना को और चोले की अभिलाषा-पूर्ति को स्वामीजी की स्वीकृति मिल गई । बंडावल गांव की सारी पंचायत की साक्षी में चोला को स्वामीजी नथमल जी महाराज ने वैरागी के रूप में स्वीकार कर लिया । स्वामीजी ने बड़ी ही सूक्ष्मता से चोले के शुभलक्षणों का निरीक्षण किया । उसकी चान्द जैसी आकृति देखकर, उसकी वाणी में चान्द की शीतलता और शान्ति पाकर, उसके व्यक्तित्व में चान्द की कौमुदी की झलक पाकर, उसके भावी जीवन में चान्द की अमृतमयी किरणों की अमरता अनुमानित कर, कालुष्य-कलुषित कषायों के तमस्-विदारण के लिये चान्द जैसी किरणों के उद्भव का बाल वैरागी जीव में अनुमान कर, मोक्ष रूपी चकवी और जीव रूपी चकवे की विरह-व्याकुलता की अभिवृद्धि के लिये नवदीक्षित वैरागी में चान्द की चान्दनी को कल्पित करके, अपनी मन्द तपश्चर्या द्वारा मन्दगति से मोक्षमार्ग की ओर बढ़ने वाले अन्य साधु रूप सितारों में पूर्णिमा के चान्द के समान चमकने की सामर्थ्य की नवदीक्षित जीव में सम्भावना करके, सूर्य से प्रकाश उधार लेकर चमकने वाले चान्द का अतिक्रमण करके अपने ही प्रकाश से प्रकाशित होने वाले नवोदित चन्द्र की इस जीव में झलक पाकर, नव-नवघोर-कर्म-बन्ध-विपाकके कारण अज्ञानान्धकार में मार्ग टटोलने वाले असंख्य-जीव-निशाचरों के लिये निशाकर बनकर आने की भावना को भावित करके और शुभकर्मों के परिणाम के समान उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकासशील शुक्लपक्ष के चान्द की कलाओं की कमनीयता को चोले के जीव में सम्भावित करके, उसका चरितार्थ होने वाला नाम चान्दमल रखा । 'मल्ल' योद्धा और वीर को कहते हैं । योद्धा अपने सांसारिक शत्रुओं से युद्ध करके उन्हें पराजित करता है और यह चान्द रूपी योद्धा अपने कर्मरूपी, कषायरूपी और पापरूपी शत्रुओं को जीवन के युद्ध-क्षेत्र में तपश्चर्या द्वारा, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र द्वारा पराजित करता हुआ मोक्षरूपी राजधानी में जय और विजय की मालाओं से अलंकृत होगा ।

अध्यात्म-जगत् के चार चांद

अब स्वामीजी श्री नथमलजी महाराजके पास वैरागियों की संख्या चौथमल जी, बख्तावरमल जी, गंभीरमल जी और चान्दमल के रूप

में चार हो गई थी। चारों वैरागी चार कषायों पर चार कुठारों के प्रहार थे। चौथमल से तो चारों कषाय चौथ के चान्द की तरह भय-भीत होते थे, बख्तावरमल ने सयम का ऐसा बखतर-कवच पहन रखा था कि उसे विदीर्ण करना कषायों की शक्ति के बाहर की बात थी, गंभीरमल की गंभीरता तो सागर की गंभीरता के समान इतनी गंभीर थी कि कषाय उन्हें न पाकर अधीर और अवीर ही रह जाते थे, चान्द-मल की ज्ञानमयी चान्दनी की शीतलता के आगे कषायों की ऊष्मा स्वत. शान्त हो जाती थी। स्वामीजी नथमलजी महाराज अपने परि-वार के इन चार अलंकारों के साथ जहां-जहां विहार करते थे वहां श्रावक इनके दर्शन करके स्वतः पुकार उठते थे, 'ये चार तो संसार में अपने ही प्रकार के जन्म, व्याधि, जरा और मरण के उपचार सिद्ध होंगे और आध्यात्मिक जगत् को चार चान्द लगाने वाले बनेंगे।' कुछ श्रावको को तो ऐसा कहते भी सुना गया था कि 'वास्तविक रूप में अपने नाम को चरितार्थ और कृतार्थ करने वाला तो स्वामीजी नथमल जी महाराज का परिवार है। हमारा परिवार तो परित —सासारिक विषयो के आरम्भ से चारों ओर से घिरा हुआ, एक ही स्थान या घर को वरण करता हुआ—ग्रहण करता हुआ, सीमित परिधि मे जकडा हुआ बैठा रहता है। असली परिवार तो इनका है जो चारो दिशाओं का वरण करके—आश्रय लेकर यत्र-तत्र बिखरे हुए पापास्रवसपृक्त प्राणियो के लिये अपने विहार-संचार द्वारा ज्ञान-वरदान का प्रदान किया करता है। धन्य है, मोक्ष मार्ग पर चलने वाली ये पावन आत्माए।"

ठाकुर श्री हरिसिंह जी का सुभाव

वीतरागतापथाग्रगामी ये चारो वैरागी अपने गुरू-चरणों में बैठकर बडे ही विनम्र भाव से आवश्यक, स्तोक, स्तवन, सिद्धान्त और आगम आदि का अभ्यास किया करते थे। अनुक्रम से यथावसर और यथा-स्थान प्रथम तीन वैरागियो की दीक्षा सम्पन्न हुई और अवशिष्ट रह गये दीक्षित होने के लिये वैरागी चान्दमल जी। विहार करते-करते अपनी शिष्य-मण्डली सहित स्वामीजी नथमलजी महाराज का रायपुर (जिला—पाली, राजस्थान) में पदार्पण हुआ। यह घटना चैत्र मास में आरम्भ होने वाले नव सम्वत् १९६५ की है, जिस समय रायपुर का

शासन ठाकुर हरिसिंह जी संचालित करते थे। वे हरि-विष्णु के समान श्रद्धा के पात्र और सिंह के समान पराक्रमी थे। या फिर शेर से भी द्विगुणित बलशाली होने के कारण उनका नाम हरिसिंह था। शारीरिक विक्रम में ही नहीं किन्तु धार्मिक विक्रम में भी वे अनुपम थे। नगरी में प्रविष्ट होने वाले साधु सन्तों की अगवानी करना, उनका सम्मान करना, उनके प्रवचन सुनना, सुनकर उनका मनन चिन्तन करना और फिर उनको अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करना उनका सहज स्वभाव था। सज्जन व्यक्ति वास्तव में ऐसे ही होते हैं जैसे ठाकुर हरिसिंह थे। किसी विद्वान् ने ठीक ही तो कहा है :

धर्मे तत्परता, मुखे मधुरता, दाने समुत्साहिता,
मित्रेऽवंचकता, गुरौ विनयिता, चित्तेऽतिगंभीरता।
आचारे शुचिता, गुणे रसिकता, शास्त्रेऽतिविज्ञानिता,
रूपे सुन्दरता, हरौ भजनिता, सत्स्वेव संदृश्यते॥

वृद्धचाणक्यशतकम्, १२, १५

अर्थात्—धर्म मार्ग में प्रवृत्ति का होना, वाणी में माधुर्य, दान देने मे उत्साह-सम्पन्नता, मित्र के प्रति विश्वासघात का अभाव, अपने गुरू के प्रति नम्रता की भावना, चित्त में गभीरता, आचार की पवित्रता, गुणग्रहण में अतिरुचि, शास्त्रों की विशेषज्ञता, आकृति में लावण्य और भगवान् के प्रति भक्ति भावना—ये सब गुण सज्जन व्यक्तियों मे ही देखने को मिलते हैं।

जो व्यक्ति धर्म का प्रसंग आने पर भी धर्म का आराधन नहीं करते उनके विषय में शास्त्रकार कहते हैं :—

धर्मं प्रसंगादपि नाचरन्ति, पापं प्रयत्नेन समाचरन्ति।
आश्चर्यमेतद्धि मनुष्यलोकेऽमृतं परित्यज्य विषं पिबन्ति॥

सु०र०भा०, ३७५, २४०

अर्थात्—ससार में ऐसे भी प्राणी हैं जो कि धर्माचरण का प्रसंग सौभाग्य से प्राप्त करके भी धर्म का आचरण नहीं करते हैं और पाप कर्मों के संग्रह में बड़ा प्रयत्न करते हैं। इस जगतीतल में यह कितने आश्चर्य की बात है कि लोग धर्मरूपी अमृत का पान करना त्याग कर पापरूपी विष का सेवन करते है।

ठाकुर हरिसिंह जी प्रथम कोटि के जीवों में से ही एक थे। वे निरन्तर अपनी रायपुर नगरी में स्वामीजी नथमल जी महाराज के प्रवचनों को सुनने आते थे और धर्म की आराधना करते थे। एक दिन प्रवचन के पश्चात् उन्होंने स्वामीजी को अपना सुझाव देते हुए कहा :

"यह जो आपका चान्दमल नाम का छोटा वैरागी है, इसको हमारी इस नगरी में दीक्षा देकर यदि आप हमारा और नगरी का सौभाग्य बढाएं तो कितना अच्छा हो। क्या आप यह कृपा हम पर नहीं कर सकते ? इसके पूर्व अन्य भी कई सन्तों ने यहां दीक्षित होकर इसकी भूमि को पावन किया है। यह मात्र मेरी इच्छा नहीं है, सारी नगरी की अभिलाषा है, मैं तो केवल नगरी का प्रतिनिधि हूं। आप तो अपने पुनीत आशीर्वाद से सबकी इच्छाओं को पूर्ण करने वाले महात्मा हो, हमें पूर्ण विश्वास है कि आप हमें निराश नही करेंगे।"

दीक्षा की तैयारियां

ठाकुर साहब के सुझाव को स्वामीजी नथमल जी महाराज ने स्वीकृति प्रदान कर दी और अब वैरागी चान्दमल जी महाराज की दीक्षा की तैयारियां बड़ी धूमधाम से रायपुर नगरी मे आरम्भ हो गई। संवत् १९६५ की चैत्र सुदी पूनम का दिन दीक्षा के लिये निर्धारित किया गया। श्रमण-सन्त की दीक्षा का विधि-विधान कोई सामान्य कोटि का नही होता। जैसा कि संसार-पक्ष में विवाह का महोत्सव मनाया जाता है, उसी प्रकार तथा कुछ क्रियाओ में उससे भी बढ़-चढ़ कर दीक्षा के महोत्सव को सम्पन्न किया जाता है। अन्तर विशेष यह होता है कि संसार का विवाह-महोत्सव संसार के विकास के लिये मनाया जाता है और दीक्षा का महोत्सव आत्म-विकास के लिये, परमधाम की प्राप्ति के लिये और जीव को स्वस्थिति में पहुंचाने के लिये होता है। पहले मे जन्म, जरा, मरण की शृंखला को उत्तरोत्तर जोडना होता है, चालू रखना होता है किन्तु दूसरे में उस शृंखला को काटना होता है और पूर्ण क्षय करना होता है। विवाह-महोत्सव के आरम्भ से ही कर्मों का आस्रव आरंभ होकर अधिकाधिक बढ़ता ही जाता है और दीक्षा-महोत्सव के आरंभ से ही कर्मों का संवर और निर्जरा आरंभ हो जाते है। विवाह का परिणाम अनेक योनियों में

गर्भवास और जन्म-मरण का दुःख होता है और दीक्षा का परिणाम सब प्रकार के दुःखों से आत्यन्तिकी निवृत्ति होता है। प्रथम मार्ग अशुद्ध एवं अप्रबुद्ध जीवों के लिये है, दूसरा शुद्ध तथा प्रबुद्ध जीवों के लिये। अशुद्धों में शुद्धि और अप्रबुद्धों में प्रबुद्धता जागृत करना सन्तों का काम है। जो वास्तव में सन्त हैं वे इस उद्धार के मार्ग पर चलते हुए असंख्य प्राणियों का कल्याण करते रहते हैं और जो स्वयं ही अप्रबुद्धता के अंधकार से आक्रान्त हैं उनसे दूसरों में प्रबुद्धता लाने की भला क्या आशा की जा सकती है? सन्त नथमलजी महाराज वास्तव में मरुधरा के एक प्रबुद्ध सन्त थे। "उनके सान्निध्य में रहकर निश्चय ही अन्य सन्तों के समान ही वैरागी चान्दमलजी प्रबुद्ध होंगे" ऐसा निश्चय से कहा जा सकता था।

रायपुर का अद्भुत दृश्य

रायपुर नगरी फूलों से, फलों से, केलों की पत्तियो से, आमों के पत्तों से, झंडियों से और गुब्बारों से सजाई गई। मार्जकों ने मार्जनियों द्वारा सारे नगर की सफाई की। भिश्तियों ने सड़कों पर, गलियों में और छोटी वीथिकाओं में जल का छिड़काव किया। चतुष्पथों के प्रांगण के आस-पास बने भवनों के चबूतरों पर जरी की पोशाके पहनकर धानक जाति के लोग शहनाइयों की मधुर गुंजार से दश दिशाओ को गुंजरित करने लगे। किले के राजप्रासाद (ठाकुर हरिसिंह जी का महल) के सिंहद्वार के ऊपरी भाग से शहनाइयो के अत्यन्त मधुर स्वर का संगम पाकर मेघ के समान गर्जन करने वाले नगाड़ों के स्वरों से आकाश-मण्डल प्रतिध्वनित होने लगा। यह ठीक वैसे ही प्रतीत हो रहा था जैसे कि कोई जर्जरितस्वर, बड़ा बूढा गायक किसी सुन्दरी के स्वर में स्वर मिलाकर गाने में आनन्दातिरेक का अनुभव कर रहा हो। कभी-कभी तुर्री की तीखी पंचम स्वर की ध्वनि शहनाई और नगाड़ों के स्वरों को चीरती हुई अपने व्यक्तित्व के अस्तित्व को अलग ही सूचित कर रही थी, ठीक वैसे ही जैसे अपने को अत्युन्नत बताने का दावा भरने वाली, आधुनिक आंग्ल संस्कृति के संस्कारों से कवलित, आदर्श भारतीय नारी के वेश का परित्याग कर, विदेशी नर-युवकों के परिधान से अपने नारीत्व को, मातृत्व को आर्यत्व को अवगुण्ठित करने वाली बाला अपने व्यक्तित्व का व्यगुल

अलग ही बजाती रहती है। वनों में, उपवनों में, उद्यानों में और गृहवाटिकाओं में आराम कर रहे मयूर-युगल नगाड़ों की, ढोलों की और धौंसों की गंभीर गर्जना को सुनकर उसे मेघ की गर्जन समझ सहसा उठकर नृत्य करने लगे थे। मयूरों के पंख जवानी पर थे, कितना मनोहारी लग रहा था उनका शराकृति और चन्द्राकृति वाला झूमता हुआ पंख-मण्डल। मयूरों के पास मयूरियां भी मस्ती में आकर और उल्लास में जी भर कर नाच रही ऐसी अशोभनीय प्रतीत हो रही थी जैसे परम शुद्ध और प्रबुद्ध जीवन के पथ पर विचरने के अभिलाषी जीव की सीमा में मण्डराने वाली दुर्भावनाएं, कामनाएं और वासनाए। चर्मभस्त्रिका के बने बीनबाजों से, डफलियों से, ढोलों से और नवाविष्कृत शहनाई के प्रधान स्वर के अवलम्बन से बजने वाले बाजों से सारी रायपुर नगरी और दिगदिगन्त प्रतिध्वनित हो रहे थे। आबाल-वृद्ध सभी के मुख-मण्डलो पर आनन्द की लहरें उमड़ रही थी। नवयुवक और नवयुवतिया, छैलछबीले और छैल-छबीलिया, बांके कंवर और बाकी कवरियां—सभी में अंगड़ाइयां ले रही थी उल्लास की लहरिया, सावरे की रगरलिया और रसिया की रसभरियां। सभी तैयार हो रहे थे, शृंगार कर रहे थे, मनुहार कर रहे थे, वचन चातुरी से पारस्परिक किये गये व्यग्यों के प्रहार का परिहार कर रहे थे। यह सारा आचार सचार विहार के लिये नही किन्तु नवदीक्षित होने वाले चान्दमलजी वैरागी को शोभा यात्रा के नगर सचार के लिये था। खरबूजे को देखकर कहते है दूसरा खरबूजा भी रग पकड़ता है, नवयुवक और नवयुवतियों की जवानी से छलकती, उमगो से उमडती और तरंगों से उछलती मण्डलियो को देखकर बूढ़ों को भी अपनी जवानी की स्मृतियां स्मरण हो आई थी, यद्यपि उनके अग शिथिल पड़ गये थे परन्तु उनके मन अब भी पूर्ववत् दृढ़ थे, सशक्त थे, सतृष्ण थे और अतृप्त थे। कितने सुन्दर लग रहे थे वे अपनी सफेद मूछो को मरोड़ते और मील के सरूत सफेद धागो की सी अपनी दाढी में कंघी से मांग निकालते हुए। मन की माया और मन की मौज अनुभूतिगम्य है, तर्कगम्य नही। ज्ञान भले ही इन वृद्ध रसिकों का सम्मान न करे, जवान भले ही उनकी हंसी उड़ाए, नवयौवन के नशे में दीवानी नायिकाए भले ही उन्हे अपमानित

कर दें किन्तु विज्ञान उन्हें सदा सम्मान देगा क्योंकि वे जीवन की परिमार्जित अमूल्य, बहुमुखी और बहुल अनुभूतियों के आधार हैं, निधान हैं। नवयुवक उनकी अनुभूतियों से लाभ उठाकर तूफानों से भरे जवानी के सागर के तूफानों से अपने प्राणों की रक्षा कर सकते हैं।

जन-समुदाय रायपुर की ओर

दीक्षा महोत्सव के कारण आस-पास के गांवों से, नगरों से और उपनगरों से स्त्री-पुरुषों के झुण्ड के झुण्ड गीत गाते हुए नगरी में प्रवेश कर रहे थे। दूर-दूर से साधु और साध्वियां भी लम्बे-लम्बे विहार करके नगर में प्रविष्ट हो रहे थे। स्थान-स्थान पर नगर के स्वामी ठाकुर साहिब की ओर से नगर के सम्पन्न सेठों की ओर से भोजन भण्डार चल रहे थे। आने वालों को पंक्तियों में बिठाकर जिमाया जा रहा था। नगर के नवयुवक और नवयुवतियां, समर्थ सभी नर-नारी आगन्तुक अतिथियों की सेवा करने में बड़े उत्साह का प्रदर्शन कर रहे थे। इतना उत्साह था कि अथक परिश्रम करने के पश्चात् भी किसी प्रकार की थकान की झलक उनके मुख पर नहीं थी।

कई बाहर से आने वाली श्राविकाएं सम्मिलित स्वरों में चौबी-सिया गा रही थी, कई रायपुर नगर की नारियां साथ मिलकर अपने मधुर कोकिल-कण्ठों से ऐसे गीत गा रही थीं जिनका भाव था कि "बैरागी चान्दमल के दीक्षा-महोत्सव के कारण जो दूर-दूर से धर्म की निष्ठा वाले धार्मिक लोग एकत्रित हुए है और हो रहे हैं उससे नगर की भूमि धन्य-धन्य हो उठी है।" स्त्रियों की दूसरी टोली के गाने का भाव था कि "बैरागी चान्दमल की दीक्षा से नगरी की भूमि पावन ही नहीं बनेगी किन्तु धर्म की आराधना के इतिहास में इस नगरी के नाम को चार चांद लगेंगे। तीसरी नारी-मण्डली के गाने का भाव था कि "बैरागी चान्दमल के भाग्य और पुण्य की परख तो इसी से हो रही है कि उसके दीक्षामहोत्सव की खुशी से आल्हादित होकर सहस्रों नर-नारियों के झुण्ड रायपुर की ओर खिंचे चले आ रहे हैं यद्यपि उन्हें किसी ने निमन्त्रण-पत्र भेजकर नही बुलाया है।" चौथी महिला मण्डली के गीत का आशय था कि

"सहस्रों नर-नारी रूपी सितारे वैरागी चान्दमल के चारों ओर मण्डराते हुए ऐसे प्रतीत हो रहे हैं जैसे उनके द्वारा चान्दमल नाम को चरितार्थ बनाया जा रहा हो।

शोभा यात्रा

वैरागी चान्दमल को दूल्हे के समान कौशेयवस्त्रों से, अलंकारों से, देदीप्यमान सितारों से, मुकुट-तट पर लटकती हुई, लहराती हुई, बलखाती हुई, अपनी चमक झलकाती हुई रेशम की और जरी की तारों से सजा कर शोभा यात्रा के लिये घोड़ी पर चढ़ा दिया गया। ऐसी बन्दोली रायपुर नगर के इतिहास में आज तक कभी नही देखी गई थी। वैरागी के नूर को नितरां निखरे निहार कर कुछ सुन्दरियां सहसा यह गीत गाने लगी जिसका भाव था :

"अरे! यह तो ऐसा लग रहा है जैसे कोई राजकुमार राजगद्दी प्राप्त करने के लिये अभिषिक्त होने जा रहा हो। कितनी भूल की है इसकी धर्म-माता ने इसके माथे पर नजर-विरोधी काला टीका नही लगाया। अरे हा, अब आई है समझ मे बात, चान्द तो लाछन से और भी सुन्दर लगा करता है, शायद इसी कारण उसने काला टीका नही लगाया। यदि ऐसा था तो गले मे व्याघ्रनख ही तावीज में गूथकर बान्ध देती—उससे भी नजर का बचाव हो जाता। मुझे डर है कि कोई काली करतूत वाली अपनी मतवाली आख की प्याली से ज़हर की लाली ऊडेल कर रूप-पीयूष-परिपूर्ण इस कनक-कलश को कलुषित न कर दे। अरि! आज तो पूनम का दिन है और पूनम की ही रात आने वाली है। 'पूनम का चान्द' तो केवल रात की ही शोभा बढाने वाला होता है, यह चाद तो दिन की भी शोभा बढ़ा रहा है। कौन कहता है कि सूर्य के प्रकाश से चान्द का प्रकाश मध्यम पड़ जाता है, सूर्य की उपेक्षा करके सभी इसी चान्द को देख रहे है, फीका पड़ जाता तो इतना आकर्षक और मनोहारी कैसे होता। 'पूनम के चान्द' को पराजित करने के लिये संभवत: इस नये चान्द का जन्म हुआ है। यह चान्द भी सोलह कलाओं से मण्डित है। आओ हम सब मिलकर इसके दर्शन से अपनी आंखों को शीतल करलें, तृप्त करलें, और सफल करले।"

चान्दमलजी वैरागी की बन्दौली रायपुर नगर के प्रमुख बाजार में से होती हुई निकल रही है। वैरागी सज-धज कर घोड़ी पर सवार है। हजारों नर-नारियों की भीड़ उसके पीछे चल रही है। आगे-आगे भिन्न-भिन्न प्रकार के बाजे विविध प्रकार की लयों में अनेक प्रकार के गानों की धुने निकालते हुए बज रहे हैं। सारी नगरी उनकी ध्वनियों से प्रतिध्वनित हो रही है। बालक, युवा और वृद्ध सभी शोभायात्रा में उल्लासपूर्ण, आनन्दपूर्ण, उत्साहपूर्ण, उमग परिपूर्ण, अंगस्फूर्तिपूर्ण, अभिनय परिपूर्ण, और सुकथनीय कलापूर्ण राजस्थानी नृत्य करते हुए, झूमते हुए, घूमते हुए, नगरी की धरती पर धूम मचा रहे हैं। बालिकाएं, किशोरिया, सुन्दरियां, युवतियां, प्रौढ़ाएं और वृद्धाएं रंग-बिरंगी कौशेय की घाघरियां, उन पर लटकने वाली, झूमने वाली, अठखेलियां करने वाली किंकणी-क्वणित-सुवर्णतागड़ियां, काम-सम्राट् की पटकुटी से स्पर्धा करने वाली बहुरंगी कंचुकियां, इन्द्र धनुष के सौन्दर्य को संकुचित कर देने वाली चतुरंगी, सप्तरंगी और अतिरंगी चूनरियां, सुवर्ण के, रजत के और गजदन्त के अलंकारों को धारण करके, सम्मिलित स्वरों मे शृंगार के, वैराग्य के, करुणा के और शान्तरसो के गीत गाती हुई, चंचल चाल से चलती हुई, चमकती हुई दमकती हुई, गमकती हुई और ठुमकती हुई चान्दमल वैरागी की शोभायात्रा को चार चान्द नही किन्तु सहस्रों चान्द लगा रही हैं।

महोत्सव की सार्थकता

प्राचीन युगों में जब कोई विक्रमशाली राजा जंग में विजय प्राप्त करके लौटता था तब उसके स्वागत के लिये उसकी राजधानी में प्रजा ऐसी धूमधाम से महोत्व मनाया करती थी। जब वह शत्रु पर चढाई करता था, उस समय प्रायः ऐसे महोत्सवों का आयोजन नहीं किया जाता था। राजा का सम्बन्ध सांसारिक क्षेत्र से था। आध्यात्मिक क्षेत्र में वैरागी चान्दमल भी एक प्रकार का राजा था और पराक्रमी योद्धा था। उसने तो अभी तक न कोई युद्ध लडा है और न ही किसी युद्ध में विजय प्राप्त की हैं, उसने तो अभी युद्ध की योजना बनाई है, तैयारी की है और चढ़ाई के लिये मात्र निकल पड़ा है संसार के सीमित प्रासाद से। ऐसी दशा में उसके सम्मान के लिये इतना महान् महोत्सव और जनोत्सव—यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। संसारी राजा की

विजय नश्वर होती है। वह एक युद्ध में विजय प्राप्त करके दूसरे में पराज्य का मुख भी देख सकता है। राजा की शत्रु पर चढ़ाई, लड़ाई और दुहाई सब कर्म की कमाई है। उस कमाई में हिंसा है, असत्य है और परिग्रह है। वैरागी की चढ़ाई और लड़ाई में अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह के बीज हैं। युद्ध-क्षेत्र में संसारी राजा की जीत या हार अनिश्चयात्मक होती है किन्तु सच्चे वैरागी की आध्यात्मिक युद्ध-क्षेत्र में विजय निश्चित होती है। संसारी राजा युद्ध-क्षेत्र में मरकर पुनः जन्म-मरण की शृंखला मे बंध जाता है किन्तु सच्चा वैरागी आध्यात्मिक युद्ध-क्षेत्र मे मर कर पुनः भवगतियों से सर्वथा मुक्त हो जाता है और वह अमर विजय का वरण करता है। इस प्रकार वैरागी के युद्ध का श्रीगणेश ससार के राजा की अपेक्षा शुभ, पावन और अधिक महत्वपूर्ण होता है। सम्भवतः इसी कारण उसकी कषायों के किले पर चढ़ाई के अवसर पर ऐसी धूमधाम की योजना बनाई जाती है। चान्दमल वैरागी की बन्दोली के दृश्य को अपने मानसपटल पर कल्पना द्वारा उतार कर उन्ही की परम्परा मे से एक वर्तमान विद्वान् सन्त कवि ने वैरागी को शत्रु के किले पर चढाई करने वाले राजा के समान मानकर बडा सुन्दर रूपक वाधा है :

किलो ह्वो जंगी ही दृढ़तर भले ही मोहनृप को,
कषायां री खाई विषय-जल वाली भिल रही।
विकारां री लहेरां गहन भल होवो किमुं नहीं,
नहीं धारेला यें विघन-घन माथे पवन है॥
उमंगी लागी है चढ़न हित दीक्षा-शिखरिणी,
कहा वेला देखो गढ़ मढ़ मुनी व्हे करम को।
सहारो देवेला गुरू पुनि गुरूभाइय प्रते,
बखाणों सेवाओं सुजस बहु लेसी सब कहे॥

पंडित मुनि श्री लालचन्द जी महाराज, (अप्रकाशित रचना)

अर्थात्—कोई पराक्रमी अति बलवान् राजा जब शत्रु के किले पर चढ़ाई करता है तो भले ही शत्रु-राजा का किला कितना ही पक्का क्यों न बना हो, वह तो उसे तोड़कर ही छोड़ता है। ठीक इसी प्रकार यह चान्दमल नाम का पराक्रमशाली वैरागी राजा आज मोह रूपी

राजा के किले पर चढ़ाई करने के लिये निकल पड़ा है, मोह का किला कितना ही दृढ़ क्यों न हो, यह तो निश्चय से उसे तोड़ कर ही छोड़ेगा। उस किले को तोड़ देना यद्यपि कोई सरल काम नहीं है क्योंकि उसके चारों ओर कषाओं की खाई खुदी हुई है जो संसार के विषय रूपी जल से परिपूर्ण है और झिलमिला रही है। वह खाई बड़ी गहरी है। और उस पर विकारों या वासनाओं की सदा लहरें उठा करती हैं जिस मार्ग पर यह चान्दमल नाम का वैरागी चल रहा है, उस पर भले ही कितने ही विघ्न-बाधाएं रूपी बादल मण्डराने लगें, यह उन सबको पवन बनकर छिन्न-भिन्न कर देगा।

"किसी बड़े से बड़े और पक्के से पक्के किले के पास यदि कोई छोटी सी पहाड़ी हो तो उसको शत्रु सेनाएं बड़ी सरलता से तोड़ सकती हैं। शत्रु सेनाए पहाड़ी का आश्रय पाकर किले पर आक्रमण करती हैं। पहाड़ी सैनिकों के शरीर का बचाव भी करती है और उनको निशाना लगाने की सुविधा भी प्रदान करती है।" इस भाव को अभि-व्यक्ति देते हुए कवि कह रहे है कि वैरागी ने मोह के किले को तोड़ने के लिये दीक्षा को छोटी पहाडी बनाया है जिसका आश्रय लेकर वह किले को तोड़ने मे समर्थ होगा। मुनि बनने के पश्चात्, यह चान्दमल वैरागी अपने गुरु को और गुरुभाइयों को बड़ा सहारा देगा, अपनी विनम्र सेवा की भावना के कारण तथा प्रवचनों के कारण संसार में प्रशंसा, यश और कीर्ति का भाजन बनेगा।

शोभा यात्रा से पंडाल पर

इस प्रकार बड़ी धूमधाम से निकली बन्दोली की समाप्ति वहां आकर हुई जहां स्वामीजी नथमल जी महाराज अपनी शिष्य-मण्डली के साथ विराजमान थे। नगर की गलियों, कूचों और सड़कों का लम्बा चक्कर काटने वाले शोभा यात्रा के यात्री दीक्षा के निमित्त बने विशाल पण्डाल के नीचे बिछी दरियों पर विश्रान्ति लेने के लिये टिक कर ऐसे बैठ गये जैसे कर्म-संचय के कारण अनेक योनियों में चक्कर काटने वाला जीव कर्म-क्षय के पश्चात् स्वस्थिति में पहुंच कर टिक आया करता है।

मुनिवेश धारण

वैरागी चान्दमल असवारी से नीचे उतरा। बड़ी गम्भीर गति से स्वामीजी नथमल जी महाराज के चरणों में आकर खड़ा हो गया। उसने बड़ी विनम्रता से और विवेक से अपने पांचों अंगों को नमा करके गुरुदेव के चरणों में वन्दना की। इसके पश्चात् वहां उपस्थित सभी सन्तों और सतियों को श्रामणी आचार-संहिता के अनुसार, यथा-क्रम और यथोचित प्रकार से सविधि वन्दना की। इसके अनन्तर वहां उपस्थित सब दर्शकों का नम्रता पूर्वक हाथ जोड़कर 'जय जिनेन्द्र' कह अभिवादन किया। सर्वप्रथम गुरुदेव स्वामीजी नथमल जी महाराज ने वैरागी को मांगलिक सुनाया। तब सारे सघ की साक्षी में गुरुदेव की आज्ञा पाकर वे ईशान कोण के एकान्त में साधुवेश धारण करने के निमित्त गये। वैरागी के सारे भूषण उतार दिये गये, मात्र सामान्य वस्त्र उसके शरीर पर सुशोभित थे। नाई ने उसके सिर का मुण्डन किया केवल चोटी के थोड़े से बाल छोड दिये। तब उसे स्नान कराकर शरीर शुद्धि की गई। अब वैरागी मुनि के वेश में परिवर्तित हो गये। श्रमणसन्त के वेश का वर्णन उक्त सन्त कवि श्री लालचन्दजी महाराज ने मारवाड़ी भाषा की कविता में बड़ी ही सजीव, सरल एवं समास शैली में इस प्रकार किया है

कटीतट चोलपटो सुलपेट, दिवी पटली सु सुशोभित पेट।
लई फिर चादर आदर-जुक्त, खंवा दुहु छादित बांधि यथुक्त॥

फबी मुख पै मुखवस्त्रि अनूप, बंधी जुत डोरक शुभ्र सरूप।
अलंकृत ह्वी दुहु कान सु पाव, लियो उपयोग श्रुती सदुपाय॥

दिये मुख-पीयूष कुंभ समान, लग्यो ढकणो तिण ऊपर तान।
कहीं उड जा न प्रमाद-पवन्न, बंध्यो इन कारण जाय सुकन्न॥

सुनो मत कोई सुनाय अजोग, वसे जग में कई भांतिय लोग।
रखो निजको श्रुतिबन्ध सहाय, करे हम शिक्षण डोर सवाय॥

वदो मत आप सुनो जितनो हि, कहो सु जरूरत हुं इतनो हि।
सके पड़ कान अनिच्छित बात, कढ़े मुख तें प विचारित ख्यात॥

कसी इम हेतु वसन्न सुनाम, बसे मुखवस्त्रि लियो सुमुखाम।
बणी चवड़ी मिव अंगुल सोल, बसे इक्कीस सुलम्बत ओल ॥

बणी सुभ सोलकलायुत चंद, बणी मितवा इक्कीस अनंद।
बणै अत आठ सुसील सवाय, रहो मिव पाठ गुणो प्रकटाय ॥

लियै मुख बांध वैरागिय फेर, लियो तु रजोहरणो कर फेर।
लसे कर झोलिय पात्र समेत, पधारत आप गुरु उपवेत ॥

(अप्रकाशित रचना)

अर्थात्—वैरागी चान्दमल ने कटीतट—कमर पर चोलपट्टा सुन्दर ढंग से लपेट लिया और पेट के ऊपर उसके अवशिष्ट भाग की पट्टी बनाकर कस डाली। दोनों कन्धों को आच्छादित करती हुई चद्दर को ओढ़ कर उसे यथास्थान गाठ लगादी। मुख पर उसने मुखवस्त्रिका बांध ली जो उस पर अनुपम रूप में सजने लगी। उसमें एक डोरा डालकर कानों से बान्ध दिया गया। दोनों कान उस डोरे की लपेट को पाकर सुन्दर लगने लगे। यह कानों का सदुपयोग था।

मुख पर बन्धी मुखवस्त्रिका ऐसे सज रही थी जैसे किसी ने अमृत-घट को ढक्कण से ढक दिया हो। कही प्रमाद की वायु से मुखवस्त्रिका उड़ न जाये इस कारण उसे कानों से बान्ध दिया गया था। डोर का कानों से बान्धना बड़ा ही सारगर्भित था। डोरा कानों को नसीहत दे रहा था कि संसार में भान्ति-भान्ति के लोग रहते हैं, उनमें कोई भी तुम्हे कोई अनुचित बात सुनाये तो उसे मत सुनो। जितना लोगों से सुनो, वह सारा का सारा सबके सामने व्यक्त मत करो, उतना ही प्रकट करो जितना प्रकट करना परमावश्यक हो। यदि कोई कान में अवांछित बात पड़ भी जाये तो मुख से उसका प्रकटीकरण विवेकपूर्वक होना चाहिये। इसी में मुखवस्त्रिका की भी शोभा है और बोलने वाले मुनि की भी।

इस मुखवस्त्रिका का निर्माण धारण करने वाले मुनि की सोलह अंगुली चौड़ा और इक्कीस अंगुली लम्बे माप का वस्त्र-खंड होता है। वैरागी चान्दमल जी के मुख पर बन्धी मुखवस्त्रिका को देखकर लोग मुखवस्त्रिका के निर्माण के अर्थ को चरितार्थ करते हुए कह रहे थे, "हे वैरागी चांद ! तुम्हारी सोलह अंगुल चौड़ी मुखवस्त्रिका का अर्थ

है कि तुम चन्द्रमा की सोलह कलाओं से सम्पन्न बनोगे, और इक्कीस अंगुल लम्बी का अर्थ है कि तुम बीस नही इक्कीस बिसवा-अर्थात्-पूर्णरूपेण आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगति करोगे।" उक्त लम्बे-चौड़े वस्त्र-खण्ड की बनी मुखवस्त्रिका की आठ परतें या तहें होती हैं जिससे अनुमान लगाकर वैरागी चान्द को लोग कह रहे थे कि "तुम मुनि के रूप मे आगे जाकर सिद्धों के आठ गुणों को प्रकट करने वाले बनोगे।"

गुरु चरणों में

वैरागी चान्दमल ने रजोहरण बगल में ले लिया और हाथ में पात्रों से मण्डित झोली सम्हाल ली। इस वेश में चान्दमल का व्यक्तित्व निखर उठा था। इस वेश में वह गुरु के चरणों में उपस्थित हुए। उसने गुरु के चरणो मे जाकर वन्दना की, 'तिखुत्तो' का पाठ पढ़ा। उसका विवेक उससे कह रहा था 'हे मालि पुत्र! अब तेरा जीव जाग चुका है।' उसने गुरुदेव से विनम्र प्रार्थना की, "बापजी! अब आप मुझे दीक्षित कीजिये। मै आपके आगे सुचरित्र पालन की भिक्षा पाने के लिये झोली पसार कर प्रस्तुत हूं। अब आप मुझ पर करुणा करके अपनी शिष्य-मण्डली में प्रविष्ट होने की आज्ञा प्रदान करें। मुझे अपनी पुनीत सेवा के सुअवसर से अनुग्रहीत करे, मेरे जीवन को कृतार्थ करे, मेरे पुण्य को प्रगति दें और मेरे जीव को सुगति दे। अब तक पता नही कितना अतीत भवों का और वर्तमान भवका अमूल्य समय मैंने बिना सत्कर्म सम्पादन के व्यर्थ में खोया है। आज मैं बहुत प्रसन्न हूं और अपने आपको बड़ा भाग्यशाली एव पुण्यवान समझता हू। 'आज का सूर्य मेरे लिये सौभाग्य की किरणें लेकर उदित हुआ था' ऐसा मैं अनुभव कर रहा हूं।"

भगवती सूत्र में, शतक दशवे और उद्देशक पहले में, वैरागी स्कन्दक द्वारा गुरु के चरणों में दीक्षा से पूर्व प्रकटित भावों को उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा। सूत्र के मूल पाठ का अनुवाद अपने सरल एव रोचक काव्य मे करते हुए सन्त कवि श्री लालचन्दजी महाराज कहते हैं :

अति आधि व्याधि उपाधियाँ, वार्द्धक्य पुनि मृत्यूमयी,
इस लोक में अग्नी लगी है, घास है जनता नयी।
हे नाथ ! मैं क्या-क्या बताऊं, बुझाई बुझती नहीं,
गर बुझाऊं इस तरफ तो, उधर नूतन लग रही ।।

जिधर देखू उधर ही यह ज्वाल-माल कराल है;
धांय-धांय जला रही हा, लाय अति असराल है।
जलते हुए निज सदन से जिस तरह स्वामी गेह का,
बहुमूल्य कमभारीय वस्तु, जो उसी के स्नेह का ।।

लेकर उसे अन्यत्र आ एकांत सुरक्षित रखे,
तब सोचता निस्तार होगा, मैं रहूंगा अब भले।
बाद में होगा हितावह, और सुखकारी सदा,
सामर्थ्य यह देगा मुझे, कल्याणकर है सर्वदा ।।

हे कृपालो ! आत्म मेरा एक सब सुख धाम है,
इष्ट-कान्त-मनोज्ञ-प्रिय सब ही तरह अभिराम है।
इसके सिवा संसार में कोई न है मेरा प्रभो !
यही केवल है टिकाऊ, पास में मेरे विभो ! ।।

मैं चाहता हूं आप इसकी कर कृपा रक्षा करो,
लेकर चरण की शरण मुझको दया से अब आदरो।
पट प्रव्रज्या मुकुट मण्डन सील (सु) वेश दिलाईये,
मैं वेश अनल निरोध धारूं कर कृपा दिलवाईये ।।

शिष्यत्व से स्वीकारकर मम चित्त की चिन्ता हरो।
रिक्त मेरे हृदय-घट को, रत्नत्रय-गुण से भरो।
है न भगवन् ! आपसा, उद्धारकर्ता लोक में,
ज्ञात मुझको हो गया है, ज्ञान के आलोक में ।।

पं० मुनि श्री लालचन्दजी महाराज
(अप्रकाशित रचना)

इस कविता का सारांश है, कि दीक्षार्थी शिष्य गुरु-चरणों में खड़ा होकर गुरु से प्रार्थना करता हुआ कहता है कि "हे गुरुदेव ! यह सारा संसार आधि-व्याधि, जन्म, जरा और मृत्यु से आक्रान्त है। सर्वत्र पापो की, अभिशापों की, परितापों की और सन्तापों की अग्नि जल रही है। जब किसी घर को आग लग जाती है तो घर का स्वामी अपनी जान को खतरे में डालकर भी अपनी कीमती वस्तुओं की रक्षा इसलिये करना चाहता है कि उनसे उसका भविष्य का जीवन सुखमय बनेगा। इस अनलाकुल संसार से भाग कर आये हुए मेरे पास तो मात्र मेरी आत्मा ही मूल्यवाम वस्तु है जिसकी मैं रक्षा करना चाहता हूं। इसकी रक्षा करने का एकमात्र स्थान आपके चरणों में है। मुझ पर करुणा करके आप मुझे अपने शिष्य के रूप में स्वीकार करें। मुझे दीक्षित करें जिससे मैं अपने चित्त की चिन्ता से मुक्त हो जाऊं। मुझे भलीभांति ज्ञात है कि आप जैसा जीवों का उद्धार करने वाला संसार में कोई नहीं है।"

गुरु के चरणों मे उपस्थित, दीक्षा से पूर्व दीक्षार्थी शिष्य के भाव प्राय: उक्त भाव से मिलते-जुलते ही होते है। वैरागी चान्दमल के भाव भी वैसे ही थे जैसा कि ऊपर निर्देश दिया जा चुका है।

दीक्षा-विधान

दोक्षा के लिये करबद्ध खड़े हुए वैरागी चान्दमल को स्वामीजी नथमलजी महाराज ने दीक्षानिमित्त शास्त्र-विहित कर्मकाड की प्रक्रिया का पालन करने की आज्ञा दी। सर्व प्रथम इरियावहिय पाठ, फिर कायोत्सर्ग, तत्पश्चात् आत्मशक्तिवर्धक नवकारमन्त्र का पाठ, शिष्य द्वारा उच्चरित कराया गया। शिष्य के मुख से गुरु द्वारा कहलवाया गया सावद्य त्याग का शास्त्रीय भाग अत्यन्त सारगर्भित भी है, दीक्षा का मूलभूत बीज भी है, श्रमण संस्कृति का आधार भूत तत्व भी है, जन्म-जरा मृत्यु के जर्जरण का यन्त्र भी है, कर्मास्रव के निरोध का विरोध भी है, पाप-सताप-लिप्तात्मा का परिशोध भी है, ज्ञानलवदुर्विदग्ध जीवो का प्रतिरोध भी है, सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र के पालन द्वारा संसार के कारणभूत कलुषित कषायों का गतिरोध भी है, वासनाओ की वायु के संचार का निरोध भी है, पाप-

प्रवृत्ति-प्रवृत्त-कुकृत्य-प्रदत्त-कटुकटुता का अप्रतिशोध भी है, पदे-पदेप्रलोभनीय-कमनीय-इन्द्रिय-विषयों की दुर्दमनीय अनन्त कामनाओं का संरोध भी है, कल्पशतयोनिपरिभ्रमणानन्तर दुर्लभ मानव योनि संप्राप्ति-साफल्य का अवबोध भी है। आगम-निगम-सिद्धान्त दर्शन के रूप में समस्त वाङ्मय का सारभूत संबोध भी है, श्रद्धाविहीन, विवेक-विहीन एवं कुतर्काश्रित वितण्डावादियों के लिये यह दुर्बोध भी है, श्रद्धावान्, विवेकवान्, ज्ञानगरिमा निधान विद्वान् के लिए यह सुबोध भी है, और निःश्रेयस् सुपथ पर अपने परम-पावन-पाद-पद्म् प्रस्थापित करने वाले पथिकों के लिये यह पाथेय के रूप में अपनी पराकाष्ठा को पहुंचा हुआ प्रमोद भी है। सावद्यत्याग का यह मूल मन्त्र जो आवश्यक सूत्र के प्रथमावश्यक में अंकित है इस प्रसग में उल्लेखनीय है। यह पाठ समस्त जैन वाङ्मय का सारभूत तत्व है।

गुरु की आज्ञा से दीक्षार्थी शिष्य गुरु के तथा समस्त उपस्थित जनसमूह के समक्ष इसे इस प्रकार पढ़ता है :

"करेमि भंते ! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि। जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं, वायाए, काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

—आवश्यक सूत्र, प्रथमावश्यक

दीक्षा के समय दीक्षार्थी शिष्य वैरागी चान्दमलजी अपने गुरु के समक्ष जीवन भर के लिये प्रतिज्ञा करते हुए कहते हैं :

"हे भगवन् ! जितना भी संसार में पापमय या हिंसापूर्ण काम है उन सबका मैं मन से, वाणी से और कर्म से परित्याग करता हूं। जितने भी संसार में प्राणी हैं या प्राण धारण करने वाले जीव हैं उनमें से किसी का भी हनन मैं मन से, वाणी से और कर्म से न तो कभी करूंगा, न किसी के द्वारा करवाऊंगा, न किसी अन्य का, जो कर रहा होगा, अनुमोदन करूंगा। जो इस प्रकार के पाप मैंने आज तक किये है, उनसे मैं दूर हट रहा हू। उनके लिये मेरी आत्मा में बड़ी आत्मग्लानि है। उसकी मैं गर्हा कर रहा हूं। आज से गुरु के समक्ष मैं बाह्यात्मा का भी परित्याग कर रहा हूं और अन्तरात्मा के शुद्ध स्वरूप को ग्रहण करता हूं।"

वैरागी चान्दमलजी ने इसके उपरान्त सिद्धों और अर्हतों को नमस्कार किया, तत्पश्चात् स्वामी नथमलजी महाराज के चरणों में सविधि वन्दना की। स्वामीजी ने उनको अपने पास पाट पर बैठा लिया और उनके सिर पर चोटी के जो अवशिष्ट केश थे उनका स्वय लोच किया। यह केश लोच ऐसा था जैसे निःसार संसार-पारावार के अविचारित-विस्तार-परिहार-पराभूत-विकार-तृण-परिवार को समूल उखाड़ कर संहार दिया हो। दीक्षा सम्पन्न हुई। सन्त श्रावकों को मांगलिक सुनाते हुए दृष्टिगोचर होने लगे।

२

गुरु-शरण से समाधि-संसरण

योग्य गुरु के योग्य शिष्य

महाव्रतधरा धीरा, भैक्षमात्रोपजीविनः ।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः ।।

योग शास्त्र, २।८

अर्थात्—अहिंसा-आदि पांच महाव्रतों को धारण करने वाले, धैर्यशाली, शुद्ध शास्त्र-विहित भिक्षा के आहार से जीवन यापन करने वाले, संयम में स्थिर रहने वाले एवं धर्म का उपदेश देने वाले महात्मा गुरु माने जाते है।

जं देई दिक्खसिक्खा, कम्मक्खयकारणे सुद्धा।

बोध पाहुड़, १६

अर्थात्—सच्चा आचार्य या गुरु वही है जो कर्म को क्षय करने वाली शुद्ध दीक्षा और शुद्ध शिक्षा देता है।

न बिना यानपात्रेण तरितुं शक्यतेऽर्णवः
नर्ते गुरूपदेशाच्च सुतरोऽयं भवार्णवः ।।

आदिपुराण, ९।१७५

अर्थात्—जिस प्रकार बिना जहाज के सागर को पार करना संभव नहीं होता, ठीक वैसे ही सद्गुरु के उपदेश के बिना इस संसार-रूपी समुद्र को पार नहीं किया जा सकता।

स्वामीजी नथमल जी महाराज वास्तव में उक्त सभी गुणों के धनी थे। वे सदा से शुद्ध दीक्षा और शुद्ध शिक्षा देते आ रहे थे। संसार-सागर से पार उतारने वाले वे यथार्थ में जहाज थे। अपने आध्यात्मिक एवं धार्मिक उपदेशों द्वारा उन्होंने कितने ही भटकने वाले एव भ्रान्त जीवों को ससार-समुद्र में से तैर कर पार जाने का मन्मार्ग बताया था। ऐसे अनुपम गुरु को पाकर चान्दमल शिष्य धन्य-धन्य हो गया था। महामनीषी श्री हर्ष के शब्दों में :

"चकास्ति योग्येन हि योग्य संगमः।"

अर्थात्—योग्य व्यक्ति के साथ योग्य व्यक्ति का संग ही शोभायमान होता है।

स्वामीजी नथमल जी महाराज को चान्दमल जैसा शिष्य भी यथानुरूप ही मिला। वह भी सुयोग्य शिष्य के सभी गुणों से सम्पन्न था। सुयोग्य शिष्य के गुणों का निर्देश करते हुए शास्त्रकार कहते हैं :

गुर्वाज्ञा करणं हि सर्वगुणेभ्योऽतिरिच्यते।

त्रिषष्टिशलाका पुरुष०, १।८

अर्थात्—गुरु की आज्ञा मानने का गुण शिष्य मे सब गुणो से बढ़कर होता है।

निद्देस नाई वट्टेज्जा मेहावी।

आचारांग, ५।६

अर्थात्—प्रतिभाशाली शिष्य अपने गुरु की आज्ञा का कभी भी उल्लंघन न करे।

अणाबाहसुहाभिकंखी, गुरुप्पसायाभिमुहो रमिज्जा।

दशवैकालिक, ९।१।१०

अर्थात्—मोक्ष के सुख की अभिलाषा रखने वाले शिष्य को, गुरु को प्रसन्न रखने के लिये सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये।

मुनि चान्दमल जी महाराज में गुरु की आज्ञा का पालन करने का गुण पूर्णरूपेण विद्यमान था। उन्होंने अपने गुरु की आज्ञा का अतिक्रमण कभी भूल कर भी नही किया। उनकी सभी क्रियाओं में गुरु को

प्रसन्न करने की भावना अधिक से अधिक रहती थी। परिणामस्वरूप स्वामीजी नथमल जी महाराज भी यह प्रयत्न करने लगे कि उनका शिष्य उत्तरोत्तर विद्वान्, चरित्रवान्, ज्ञानवान्, दर्शनवान्, श्रद्धावान्, आगमज्ञानवान्, सम्मानवान्, संयम-सौन्दर्यवान्, समतावान्, सत्त्व-गुणगरिमावान्, त्रिविध-विकल-विषय-विष-विकार-संचार-परिहारवान और निःश्रेयस् पथ के पथ पर द्रुततम गतिमान् बने।

विद्याध्ययन

उक्त गुणों के आधान का निधान बनाने के लिये विधि-विधान से स्वामीजी नथमल जी महाराज ने मुनि चान्दमल जी को विद्याध्ययन का श्रीगणेश कराया क्योंकि :

सम्यगाराधिता विद्यादेवता कामदायिनी।
आदिपुराण, १६।९९

अर्थात्—यदि विद्या-देवता की सम्यक् विधि-विधान से आराधना की जाये तो उससे समस्त वांछित फलों की प्राप्ति हो जाती है।

और भी :

श्रियः प्रदुग्धे विपदो रुणद्धि, यशांसि सूते मलिनं प्रमार्ष्टि।
संस्कार शौचेन परं पुनीते, शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः॥
विद्धशालभंजिका नाटिका, १।८

अर्थात्—पुण्यमयी सम्पत्तियों की जननी, आपत्तियों का निवारण करने वाली, लोक-मानस में यश उत्पन्न करने वाली, मन की मैल का प्रमार्जन करने वाली, मानव-मन के संस्कारों को पावन बनाने वाली और परम पवित्र प्रज्ञा के रूप में प्रकट होने वाली विद्या कामधेनु के समान होती है।

परन्तु उक्त प्रकार के फलो की, गुणों की और उपलब्धियों की जननी विद्या की प्राप्ति के लिये भी विद्यार्थी में अपेक्षित गुणों का होना परमावश्यक है। उन अनेक गुणों में प्रमुख हैं—प्रिय करना, प्रिय बोलना और विनयशील होना।

शास्त्र का कथन है :

पियं करे, पियं वाई, से सिक्खं लद्धुमरिहई।
उत्तराध्ययन सूत्र, ११।१४

अर्थात्—जो शिष्य अच्छे कार्य करने वाला हो और प्रिय वचन बोलने वाला हो, वही मनोवांछित शिक्षा प्राप्त करने में सफल हो सकता है। इसी प्रकार :

विणयाहीया विज्जा देंति फलं इह परे य लोगम्मि।
न फलंति विणयहीणा, सस्साणिव तोयहीणाई॥

बृहत्कल्पभाष्य, ५२०३

अर्थात्—विनय की भावना से पढ़ी हुई विद्या, इस लोक और पर-लोक मे सर्वत्र फलवती होती है। विनय के बिना ग्रहण की गई विद्या उसी प्रकार निष्फल हो जाया करती है जैसे जल न मिलने के कारण धान्य की खेती नष्ट हो जाती है।

मुनि चान्दमल जी मे 'सबका प्रिय संपादन,' 'वचन माधुर्य' और 'विनय की भावना' ये तीनों गुण प्रचुर मात्रा मे विद्यमान थे। इन तीनों गुणों के अतिरिक्त अन्य जो शास्त्रविहित जिज्ञासा वृत्ति के गुण हैं वे भी इस विद्यार्थी में पर्याप्त थे। शास्त्र के अनुसार :

सुस्सूसइ पडिपुच्छइ, सुणइ गिण्हाई ईहए वावि।
ततो अपोहए वा, धारेइ करेइ वा कम्मं॥

नन्दीसूत्र, गाथा, ६५

अर्थात्—विद्याग्रहण करने वाला छात्र, सर्व प्रथम।

(१) सुनने की इच्छा करता है, (२) पूछता है, (३) उत्तर को सुनता है, (४) ग्रहण करता है, (५) तर्क-वितर्क से ग्रहण किये हुए अर्थ को अपनी बुद्धि पर तोलता है, (६) तोलकर निश्चय करता है, (७) निश्चित अर्थ को धारण करता है और फिर (८) उसके अनुसार आचरण करता है।

मुनि चान्दमल जी गुरु-चरणों में बैठकर जब विद्याभ्यास करते थे तो उक्त सभी जिज्ञासा-वृत्ति की क्रियाएं उनकी वाणी में अभिव्यक्त होती थी। कभी-कभी तो गुरु को आश्चर्य होता था उनकी प्रतिभा पर, उनकी तर्क-शक्ति पर और उनकी पदार्थ-धारण करने की तत्परता एवं बौद्धिक सामर्थ्य पर। जिसे वे एक बार सुन लेते थे उसे दूसरी बार सुनने की आवश्यकता नहीं रहती, ऐसी थी उनकी तीक्ष्ण बुद्धि। गुरु-चरणों मे बैठकर मुनि चान्दमल जी महाराज ने व्याकरण सिद्धान्त

चन्द्रिका, अमरकोश, हेम व्याकरण, षड्दर्शन समुच्चय, सूयगडांगसूत्र, आचारांगसूत्र, भगवती सूत्र, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि-आदि अनेक व्याकरण तथा कोश के ग्रन्थों का और आगम तथा सिद्धान्त के ग्रन्थों का दत्तचित्त होकर अध्ययन किया। संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य दोनों का पठन साथ-साथ चलता था। पठित पाठ की आवृत्ति करना, मौखिक स्मरण करने वाले पाठों को रट डालना और उन्हें गुरु को प्रतिदिन सुना देना, उनकी दैनिक आवश्यक क्रिया थी। पठन के साथ-साथ उनकी दैनिक धार्मिक क्रियाएं भी चल रही थीं, उन्होंने कभी भी किसी भी क्रिया में प्रमाद नहीं किया। निरन्तर विद्याभ्यास से उनकी बुद्धि उत्तरोत्तर विकसित एवं तीव्र होती जा रही थी।

स्वाध्याय: तपश्चर्या का प्रथम चरण

मुनि-मार्ग पर कदम रखने का अर्थ ही तपश्चर्या है और शास्त्र के वचनानुसार :

न वि अत्थि न वि अ होही, सज्झायसमं तवोकम्मं।

बृहत्कल्पभाष्य, ११६९

अर्थात्—स्वाध्याय से बढ़कर 'तप' न तो संसार में अब तक हुआ है, न वर्तमान में कहीं है और न ही भविष्य में कभी होने की संभावना है।

इसका भी कारण है। प्राय: सभी जैनेतर दर्शनों के आचार्यों ने :

'दुःखात्यन्तनिवृत्तिर्मोक्षः।'

अर्थात्—सभी प्रकार के—आत्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति—पूर्ण रूपेण अभाव को मोक्ष कहा है। जैन शास्त्र स्वाध्याय को भी दु:खों से मुक्ति दिलाने का एक साधन मानता है :

सज्झाए वा निउत्तेण, सव्वदुक्ख विमोक्खणे।

उत्तराध्ययन, २६।१०

अर्थात्—स्वाध्याय भी एक ऐसा उपाय है जिसमें मन की एकाग्रता के कारण सब दु:खों से मुक्ति मिल जाती है।

इसके अतिरिक्त जैन दर्शन का यह प्रमुख सिद्धान्त है कि कर्मों के

ज्ञान से ही जीव को मुक्ति प्राप्त होती है। उसका पोषण भी स्वाध्याय से सम्पन्न होता है। शास्त्रकार कहते हैं :

सज्झाएणं णाणावरणिज्जं कम्मं खवेई।

वही, २६।१८

अर्थात्—स्वाध्याय करने से ज्ञानावरण—ज्ञान को आच्छादन करने वाले कर्म का क्षय होता है।

'मुनि चान्दमल जी की तपश्चर्या का 'स्वाध्याय' प्रथम चरण था' ऐसा हम निःसंकोच कह सकते हैं। वे जिस शास्त्र का स्वाध्याय करते थे वह मात्र स्वाध्याय के निमित्त नहीं होता था किन्तु उस पर मनन और चिन्तन भी करते थे। मनन और चिन्तन का परिणाम अनुभूति है। अपने गुरुमुख से पढा हुआ निम्नलिखित शास्त्र वचन उन्हें भली-भाति स्मरण था :

जो वि पगासो बहुसो, गुणिओ पच्चक्खओ न उवलद्धो।
जच्चंधस्स व चन्दो, फुडो वि संतो तहा स खलु॥

बृहत्कल्पभाष्य, १२२४

अर्थात्—किसी शास्त्र का अनेक बार अध्ययन करने के पश्चात् भी यदि उसके वास्तविक अर्थ की साक्षात् स्पष्ट अनुभूति न हुई हो, तो वह अध्ययन वैसा ही अप्रत्यक्ष रहता है, जैसा कि जन्मान्ध के समक्ष चन्द्रमा प्रकाशमान होते हुए भी अप्रत्यक्ष ही रहता है।

इस शास्त्र-वचन के अनुगमन-स्वरूप वे जो कुछ गुरुमुख से पढ़ते थे उसे अनुभूतिगम्य भी बनाते थे। चिन्तन और मनन की परिणति है—अनुभूति और अनुभूति की परिणति है—क्रिया। 'ज्ञानं हीन क्रियां बिना' की उक्ति के अनुसार उस ज्ञान का कोई भी लाभ नही है जो जीवन मे अपने अन्तरग और बहिरंग क्रिया-कलाप में उतारा न गया हो। मुनि चान्दमल जी ने अब यह निश्चय कर लिया था कि उन्होंने जो कुछ पढ़ा है, सीखा है, अनुभव किया है और जाना है उसे वे क्रिया के रूप में परिणत करेंगे—साध्वाचार के रूप मे, धर्म प्रचार के रूप में, शास्त्रों की व्याख्याकार के रूप में, परोपकार के रूप मे, ससार के प्राणियों के ऊद्धार के रूप मे, समता के प्रचार के रूप में और कषाय-जनित विकारों के संहार के रूप में।

साधना के पथ पर

वैदिक संस्कृति में आत्म-कल्याण की सोपान पर आरूढ़ होने के लिये आयु की निश्चित सीमा का विधान है। उसमें ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रमों को पार करके वानप्रस्थ और सन्यास के आश्रमों की प्रतीक्षा करनी पड़ती है, परन्तु श्रमण संस्कृति में इस प्रकार आत्म-कल्याण चाहने वाले जीव के लिये किसी प्रकार का बन्धन नहीं है। इसका कारण है कि मृत्यु का तो कोई भी समय निश्चित नहीं है। वह बाल्यावस्था में भी आ सकती है और युवावस्था में भी, वह किसी भी आश्रम की प्रतीक्षा नहीं करती। ऐसी स्थिति में आत्म-कल्याण के लिये लम्बे समय की प्रतीक्षा करने की गुंजायश नहीं रह जाती है। अतएव श्रमण संस्कृति का विधान है कि आयु भले ही कितनी हो किन्तु यदि जीव अपने कल्याण के लिये और उद्धार के लिये जागरूक है तो उसे अपनी आयु के किसी भी वर्ष में संसार का त्याग करके वीतरागता का आश्रय ले लेना चाहिये। चोले से मुनि चान्दमल तक पहुंचे चान्दमल के जीव ने श्रमण संस्कृति की इसी परम्परा का पालन करते हुए आत्म-कल्याण के मार्ग पर कदम बढाया था। श्रमण संस्कृति की सोपान के पहले डडे पर पैर रखने के लिये साधक को अपना परि-वार, माता, पिता, पत्नी, सगे-सम्बन्धी, एवं चल-अचल सम्पति सभी का पूर्ण रूप से परित्याग करना पड़ता है। इन सबका ममत्व वह ठीक उसी प्रकार छोड़ देता है जैसे सांप अपनी कंचुली को त्याग कर पुनः उसकी ओर नहीं देखता। संसार की सब ऋद्धि और सिद्धियों को वह ऐसे झाड़कर चल देता है सासारिक जीवन से, जैसे लोग वस्त्र की धूल को झाडकर पीछे हट जाते हैं। परन्तु यह सब तो बाह्य त्याग है। श्रमण मुनि के लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है। यह बाह्य वस्तुओं पर उसने विजय प्राप्त की है। उसके लिये अपने अन्तर्जगत् पर विजय प्राप्त करना और भी अत्यावश्यक है। उसे तो शास्त्र की आज्ञा के अनुसार :

> निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो।
> समो य सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य॥
> लाभालाभे सुहेदुक्खे, जीविए मरणे तहा।
> समो निंदापसंसासु, तहा माणावमाणओ॥

गारवेसु कसाएसु, दण्डसल्लभएसु य ।
नियत्तो हाससोगाओ, अनियाणो अबन्धणो ॥
उत्तराध्ययन अ० १६, गा० ८६-६१

अप्पसत्थेहिं दारेहिं, सव्वओ पिहियासवे ।
अज्झप्पज्झाणजोगेहिं, पसत्थदमसासणे ॥
एवं नाणेण चरणेण, दंसणेण तवेण य ।
भावणाहि य सुद्धाहिं, सम्मं भावेत्तु अप्पयं ॥
वही० गा०, ६३-६४

अर्थात्—प्राणिमात्र को अपना समझ कर भी श्रमण-सन्त ममता-हीन होता है, अहंकारी संसार के अन्दर रहते हुये भी अहंकार उसका स्पर्श नही करता, संसारी प्राणियों के साथ विचर कर भी उसका किसी के प्रति लगाव नही होता, ससार के अज्ञानी प्राणियों से तिरस्कृत होता हुआ भी वह अपने गौरव को महत्व नही देता, विषमतापूर्ण ससार में रहता हुआ वह समस्त त्रस और स्थावर प्राणियो के प्रति समता का भाव रखता है। साधना के इस चरण में श्रमण के लिये लाभ-हानि, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशसा, मान और अपमान सब एकाकार बन जाते है। वह अपमान को भी अमृत समझ कर पी जाता है परन्तु अपमानकर्ता के प्रति कटु वचन बोलकर उसका कभी निरादर नही करता। गौरवों से, क्रोधादि कषायो से, दण्ड, शल्य के भय से, प्रसन्नता और शोक से वह निवृत्त हो जाता है। कोई उसकी ईप्सित कर्म-फल-इच्छा नही होती। कोई उसका बान्धव नहीं होता, यद्यपि वह प्राणिमात्र के शुभ चिन्तन मे सदा तत्पर रहता है और प्राणिमात्र को अपना बन्धु मानता है।

आध्यात्मिक ध्यान-योग के द्वारा और अपने ऊपर पूर्ण शासन के द्वारा वह निन्दनीय पाप कर्मों के आगमन को रोक देता है और इस प्रकार ज्ञान, चारित्र, दर्शन और तप के द्वारा अपनी भावनाओं को शुद्ध बनाकर अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझ लेता है।

जैन सन्त संसार के प्राणिमात्र का उपकार करने को तो सर्वदा उद्यत रहता है किन्तु उसका प्रतिफल प्राप्त करने की कभी कामना नहीं करता। अपनी वेदना को तो वह मानकर सरलता से

सहन कर लेता है किन्तु दूसरों की पीड़ा उसके लिये असह्य हो उठती है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि जैन सन्तों की साधना का केन्द्र-बिन्दु निजात्म-कल्याण या उत्थान होता है परन्तु इसमें भी जरा भी सन्देह नहीं कि लोक-कल्याण की भावना को जैन शास्त्रों में आत्मोद्धार का साधन माना गया है। दूसरों के कल्याण को अपना ही कल्याण माना है :

समाहिकारए णं तमेव समाहिं पडिलब्भई।

भगवती सूत्र, ७।१

अर्थात्—जो दूसरों के सुख एवं कल्याण का प्रयत्न करता है, वह स्वयं भी सुख एवं कल्याण को प्राप्त करता है।

जैनागमों में और धर्म ग्रन्थों में जैन साधु की आचार संहिता इतने विस्तार से वर्णित है कि उस पर स्वतन्त्र विशाल ग्रन्थों का निर्माण हो सकता है किन्तु यहां तो उसका संक्षेप से निर्देश इसलिए किया जा रहा है कि पाठकों को उसकी रूपरेखा से यह ज्ञात हो जाये कि जैन सन्त को आत्म-कल्याण के लिये और लोक-कल्याण के लिये किन-किन और कैसे-कैसे लोमहर्षक परीषहों में से गुजरना पड़ता है, सहते हुये आगे बढ़ना होता है और सब प्रकार के दुःखों पर, रुकावटों पर और विरोधी-तत्वों पर विजय प्राप्त करनी होती है। मुनि चान्दमल जी महाराज सबमें खरे उतरे, कहीं भी डगमगाये नहीं, घबराये नही, शर्माये नही, उकताये नहीं, किसी प्रलोभन में आये नहीं, दुर्दमनीय इन्द्रियों के विषयों ने सताये नहीं, कुपथगामियों के, विधर्मियों के कुतर्कों से भरमाये नहीं, साधना की आराधना के 'अहं' से किसी पर छाये नही, मिथ्याज्ञान के कदापि गीत गाये नहीं और सत्य वचन कभी किसी से कहते शर्माये नहीं।

जिस साधना के पथ पर चलता हुआ जैन सन्त जन्म-मरण के बन्धन को काटने में समर्थ बनता है, कर्मों का क्षय करके परमात्म-पद को प्राप्त करने में समर्थ होता है, उस साधना के कुछ निश्चित तत्व हैं, कुछ निर्धारित धार्मिक नियम हैं, कुछ शास्त्रीय विधि-विधान हैं और कुछ संतुलित आचार विचार हैं, जिनके पालन करने से या जीवन में वास्तविक रूप से उतारने से ही मुनि प्रशस्त निःश्रेयस् के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। जैन मुनि के लिये विहित उन नियमों की

यहां मात्र रूप रेखा ही प्रस्तुत की जा सकती है। मुनि चान्दमल जी उन सभी, मुनि के लिये अपेक्षित, धार्मिक नियमों का बड़ी कर्मठता से सम्पादन करने मे सफल हुए, इस कारण उन तत्वों का या नियमों का यहां निर्देश करना परमावश्यक है।

साधना के मूल मन्त्र : पांच महाव्रत

किसी भी जैन साधु के साधुत्व की आधारशिला पंच महाव्रत पालन है। जो पंच महाव्रतों का पालन नही करता उसे श्रमण संस्कृति की आचारसंहिता के अनुसार साधु नही कहा जा सकता। संक्षेप में पंच महाव्रत जैन साधु की साधना की नीव हैं, जिस पर वह अपने आचार का, विचार का, आत्मोद्धार का और मोक्ष-मार्ग-विहार का प्रासाद खड़ा किया करता है। वे पांच महाव्रत है :

१. **अहिंसा महाव्रत** : जैन साधु को जीवन भर के लिये यह व्रत लेना होता है कि वह मन से, वचन से और कर्म से न तो किसी भी प्राणी की हिंसा करेगा, न करवायेगा और न ही करने वाले का अनुमोदन करेगा। वह प्राणिमात्र के प्रति अखड करुणा की भावना रखेगा। यही कारण है कि वह जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और पृथ्वीकाय सभी प्रकार के जीवों की हिंसा से दूर रहता है, यद्यपि उसे इसके लिये अनेक प्रकार की असुविधाओं का, कष्टो का और कठिन परीषहों का सामना करना पड़ता है। वह शास्त्र की आज्ञा का कभी उल्लंघन नही करता। शास्त्र का कथन है :

सव्वे पाणापिआउआ, सुहसाया दुक्खपडिकूला।
जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं,
नाइवाएज्ज कंचणं॥

आचारांग, १।२।३

अर्थात्—सब प्राणियो को अपना जीवन प्यारा है। सुख सब को प्रिय है और दुःख सबको अप्रिय। मृत्यु किसी को अच्छी नही लगती किन्तु जीना सबको अच्छा लगता है। सभी प्राणी जीना चाहते हैं। क्योंकि सबको जीवन प्रिय है। इसलिये हे साधक, तुम किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो।

आयओ बहिया पास ।

वही० १।३।३

अर्थात्—तुम अपने समान ही बाह्य जगत् के प्राणियों को देखो ।

जं इच्छसि अप्पणतो, जं च न इच्छसि अप्पणतो ।
तं इच्छ परस्स वि, एत्तियगं जिणसासणयं ॥

बृहत्कल्पभाष्य, ४५८४

अर्थात्—जैसा व्यवहार तुम अपने लिये दूसरों से चाहते हो, वैसा ही व्यवहार तुम दूसरों के साथ करो । जैसा व्यवहार तुम अपने लिये नहीं चाहते हो, वैसा दूसरों के साथ भी नहीं चाहना चाहिये । बस यही जैन धर्म का सार है और यही तीर्थंकरों का उपदेश है ।

इस प्रकार किसी भी प्रकार के त्रस और स्थावर जीव की हिंसा न करता हुआ जैन मुनि प्रथम अहिंसा महाव्रत का पालन करता है ।

२. सत्य महाव्रत : मन से सत्य का चिन्तन, वाणी द्वारा सत्य की अभिव्यक्ति, कर्म से सत्याचरण और सूक्ष्म असत्य के भी परित्याग को (दूसरा) सत्य महाव्रत कहते है । शास्त्र की वाणी में :

कायवाङ्.मनसामृजुत्वमविसंवादित्वं च सत्यम् ।

मनोनुशासनम्, ६।३

अर्थात्—शरीर, वचन एवं मनकी सरलता तथा अविसंवादिता—कथनी और करनी की एकता को सत्य कहा जाता है ।

शास्त्रकारों ने तो सत्य को साक्षात् भगवान् कहा है और यह भी कहा है कि इस ससार मे कोई सारभूत तत्व है तो वह सत्य ही है जिसकी गंभीरता महासागर से भी बढ़कर है । इस भाव की अभिव्यक्ति निम्नलिखित शास्त्र वचनों में की गई है :

तं सच्चं भगवं ।

प्रश्न व्याकरण, २।२

सच्चं लोगम्मि सारभूयं,
गंभीरतरं महासमुद्दाओ ॥

वही, २।२

ज्ञानार्णव में तो यहां तक कहा गया है सत्य के विषय में कि :

एकतः सकलं पापमसत्योत्थं ततोऽन्यतः ।
साम्यमेव वदन्त्यार्यास्तुलायां धृतयोस्तयोः ।

ज्ञानार्णव, पृष्ठ, १२६

अर्थात्—तराजू के एक पलड़े में यदि संसार के समस्त पापों को रख दिया जाये और दूसरे पलड़े में असत्य से उत्पन्न होने वाले पाप को रख दिया जाये तो दोनों का संतुलन समान होगा—ऐसा आर्य-श्रेष्ठ पुरुषो का कथन है ।

इसी सत्य की भिन्न प्रकार से मनु महाराज ने भी पुष्टि की है। उनका कथन है :

अश्वमेध सहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेध सहस्राद्वि सत्यमेव विशिष्यते ।।

मनु० उद्धृत०, सु०र०भा०, पृष्ठ, ८३

अर्थात्—हजारों अश्वमेध यज्ञों के फल को यदि तराजू के एक पलड़े मे रख दिया जाये और दूसरे पलड़े में सत्य को रख दिया जाये तो सहस्रों अश्वमेध यज्ञो के फल की तुलना में सत्य का पलड़ा ही भारी रहेगा।

जैन सन्त मन, वचन और काया से कभी असत्य भाषण नहीं करता। असत्य बोलने की अपेक्षा वह मौन धारण करना अधिक प्रियतर समझता है। वह जब बोलता है तो उसकी भाषा नितान्त मधुर, निर्दोष एवं विवेकपूर्ण होती है।

शास्त्र-विधान के अनुसार वह तो हास्य-विनोद की बातों में भी इसलिये भाग नही लेता कि कही प्रमादवश उसके मुख से असत्य-वचन न निकल जाये ।

३. **अचौर्य महाव्रत** : बिना स्वामी की इच्छा से किसी भी वस्तु का ग्रहण न करना 'अचौर्य महाव्रत' कहलाता है। जैन मुनि के लिये शास्त्र का विधान है :

दन्तसोहणमाइस्स अदत्तस्स विवज्जणं ।

उत्तराध्ययन सूत्र, १९।२८

अर्थात्—अचौर्य—अस्तेय महाव्रत का पालन करने वाला जैन मुनि और वस्तु तो दर किनार, यदि दान्त साफ करने के लिये तिनके की भी आवश्यकता पड़े तो उसे भी बिना स्वामी की अनुमति के ग्रहण न करे।

इसका कारण बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं :

लोभाविले आययई अदत्तं।

वही०, ३२।२९

अर्थात्—चौर्य कर्म में वही व्यक्ति प्रवृत्त होता है जो लोभ से अभिभूत है। इस प्रकार लोभ नाम का कषाय चौर्य कर्म का जनक भी है और प्रेरक भी। लोभ कषाय से जीव में कालुष्य उत्पन्न होता है, जो जीव के ऊर्ध्वमुखी होने में बाधक है। इसलिये जैन मुनि चौर्य कर्म में कभी प्रवृत्त नहीं होता।

इसके अतिरिक्त चौर्य कर्म में हिंसा की भावना भी स्पष्ट परिलक्षित होती है।

योगशास्त्र के अनुसार :

एकस्यैकक्षणं दुःखं मार्यमाणस्य जायते।
सपुत्र-पौत्रस्य पुनर्यावज्जीवं हृते धने॥

योग शास्त्र, २।६८

अर्थात्—यदि किसी को जान से मार दिया जाये तो मरने वाले को प्राणो के बियोग के समय एक क्षण का ही दुःख उठाना पड़ता है परन्तु जिस व्यक्ति के धनको चोरी द्वारा हरण कर लिया जाता है उसके पुत्र, पौत्र तथा अन्य अनेक परिवार के सदस्यों को आजीवन दुःख भोगना पड़ता है। इससे अनेक जीवों की हिंसा का पाप चोरी करने वाले को लगता है।

४. ब्रह्मचर्य महाव्रत : मन से, वाणी से और कर्म से स्त्री की कामना न करना, सेवन न करना और उससे स्पर्श का सम्पर्क न करना 'ब्रह्मचर्य महाव्रत' कहलाता है। श्रमण संस्कृति में भिक्षु माना ही उसको है जो शुद्ध भाव से ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन करता है। इस भाव को शास्त्र में इस प्रकार अभिव्यक्ति दी है :

स एव भिक्खू, जो सुद्धं चरति बंभचेरं।

प्रश्नव्याकरण, २।४

ब्रह्मचर्य की निरुक्ति करते हुए आचार्य कहते हैं :

जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरिया, हविज्ज जा जदिणो।
तं जाण बंभचेरं, विमुक्कपरदेहतित्तिस्स॥

भगवती आराधना, ८७८

अर्थात्—ब्रह्म का अर्थ है 'आत्मा'। आत्मा में चर्या—रमण करना ही ब्रह्मचर्य कहलाता है। ब्रह्मचारी परदेह मे प्रवृत्ति द्वारा तृप्ति प्राप्त नहीं करता। वह तो आत्मा की स्वस्थिति से ही तृप्त होता है।

शास्त्रकारो ने ब्रह्मचर्य महाव्रत को जैन साधु के लिये सर्वोत्तम माना है :

तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं ।

सूत्रकृतांग, १।६।२३

अर्थात्—ससार में जितने भी तप है, उन सब में उत्तम तप ब्रह्मचर्य का पालन है। इस वास्तविकता का कारण बताते हुए शास्त्रकार कहते है-

जंमि य भग्गंमि होइ सहसा सव्वं भग्गं ।
जंमि आराहियंमि आराहियं वयमिणं सव्वं ॥

प्रश्न व्याकरण, २।४

अर्थात्--ब्रह्मचर्य इस कारण उत्तम तप है कि केवल एक ब्रह्मचर्य के नष्ट होने पर, सहसा अन्य सब गुण नष्ट होने लगते हैं। एक ब्रह्मचर्य की आराधना कर लेने से अन्य सब शील, तप, विनय आदि व्रत स्वय आराधित हो जाते है।

यह महाव्रत जितना उत्तम है, उतना दुष्कर भी है। जो इसका पालन करता है उसको तो

देव-दाणव-गंधव्वा, जक्ख-रक्खस-किन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करेति तं ॥

उत्तराध्ययन, १६।१६

अर्थात्—देवता, दानव, गधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर, सभी ब्रह्मचर्य के साधक को प्रणाम करते है। वह इस योग्य इसलिये होता है क्योकि वह बडा ही दुष्कर-कठिन काम करता है।

५ **अपरिग्रह महाव्रत** : परिग्रह, मूर्च्छा, आसक्ति, ममत्व और इच्छा—ये शब्द सामान्य रूप से एकार्थक वाची है, अन्तर है तो अति-सूक्ष्म। श्रामणी दीक्षा लेते ही जैन साधु मन से, वाणी से और कर्म से समस्त परिग्रह का त्याग कर देता है। परिग्रह के अन्दर तो संसार की सभी वस्तुओं का समावेश हो जाता है। घर, सम्पत्ति, सोना, चांदी, हीरे, जवाहरात, पशुधन आदि आदि सब परिग्रह ही है। जैन

मुनि इन सबके प्रति अनासक्त होकर और अममत्वी बनकर विचरता है। साधु जीवन यापन करने के लिये भी उनको जिन अत्यावश्यक उपकरणों की आवश्यकता होती है उन्हें रखकर भी वह उनके प्रति मूर्च्छा भाव नही रखता।

पांच समिति : महाव्रतों की संरक्षिका

पाप कर्म से बचाव के लिये जो मनकी प्रशस्त एकाग्रता है, इसी को समिति कहा जाता है। प्रत्येक जैन मुनि के लिये यह वैधानिक आदेश है कि वह पांच महाव्रतों के पालन की रक्षा के लिये पांच प्रकार की समितियों का पूर्ण रूपेण ध्यान रखें। वे पांच समितियां हैं :

१—**ईर्या समिति** : मुनि चलते समय कम से कम चार हाथ आगे की भूमि को देखकर चले। इस प्रकार की सावधानी से आगे आने वाले जीवों की रक्षा की जा सकती है।

२. **भाषा समिति** : साधक को अपनी भाषा पर पूर्ण संयम होना चाहिये। उसे तो

सच्चं च हियं च मियं गाहणं च।

प्रश्न व्याकरण २।२

अर्थात्—साधु को ऐसा सत्य बोलना चाहिए जो हितकारी हो, परिमित हो और ग्रहण करने योग्य हो। अन्यत्र भी :

निच्चकालाप्पमत्तेणं, मुसावायविवज्जणं।
भासियव्वं हियं सच्चं, निच्चाउत्तेण दुक्करं॥

उत्तराध्ययन, १६।२६

सारांश यह है कि साधु को अप्रमत्त होकर विचरना चाहिये, उसकी वाणी में कभी असत्य का अंश न आने पाये, उसकी भाषा सत्य से, हित से और माधुर्य से अनुप्राणित हो।

३. **एषणा समिति** : साधु द्वारा सर्वथा निर्दोष एवं पूर्ण रूपेण पवित्र आहार ग्रहण करने को एषणा समिति कहते हैं। जैन साधु सदा ऐसा आहार ग्रहण करते हैं जो असावद्य—पापविहीन हो। उनका आहार, आहार के लिये नही होता किन्तु मात्र शरीर धारण करने के लिये होता है। गोचरी में मिला हुआ आहार तिक्त, कड़ुवा, कषायमय, अम्ल, मीठा, नमकीन, नीरस, व्यंजनयुक्त अथवा

व्यंजनहीन, तरल अथवा शुष्क जैसा भी उसे मिल जाये, वह अपने ऊपर पूर्ण संयम रखता हुआ उसे मधु और घी की तरह स्वादिष्ट समझ कर खा जाता है।

४. **आदाननिक्षेपण समिति** : 'किसी जीव-जन्तु का घात न हो जाए' इस भावना को ध्यान में रखते हुए जैन मुनि अपने उपकरणों को या अन्य प्रकार की वस्तुओं को अपने स्थान से उठाते समय या उनको रखते समय जो सावधानी वरतता है—उसीका नाम आदान-निक्षेपण समिति है। अहिंसा के धर्म का कितने सूक्ष्म एवं सतर्क रूप में साधु को पालन करना होता है, इसकी स्पष्ट झलक इस चौथी समिति में मिलती है।

५. **परिष्ठापनिका समिति** . साधु को ऐसे स्थान पर मल मूत्र विसर्जित करना जहा जीवों की उत्पत्ति संभव न हो और देखने वालों के मन में घृणा की भावना भी उत्पन्न न हो। इसी क्रिया को परि-ष्ठापनिका समिति कहते है।

तीनगुप्ति : आत्म-नियंत्रण की गुटिका

अपनी इन्द्रियों पर तथा मन पर पूर्ण नियंत्रण रखते हुए उन्हें असत्य की प्रवृत्ति से रोककर अन्तर्मुखी करना या आत्माभिमुख करना गुप्ति कहलाता है। इसके तीन प्रकार है ·

१. **मनोगुप्ति** : अशुभ, कुत्सित, निन्दनीय एवं अप्रशस्त विकारों की ओर आकर्षित होते हुए मन को वहां से रोकने का नाम मनोगुप्ति है।

२. **वचनगुप्ति** : किसी के प्रति मिथ्या, कर्कश चुभने वाली और खलने वाली भाषा के प्रयोग के रोकने को वचन गुप्ति कहा जाता है।

३. **कायगुप्ति** : यह सामान्य अनुभव की बात है कि मनुष्य की प्रवृत्ति अशुभ की ओर अधिक किन्तु शुभ की ओर बहुत कम होती है। जैन मुनि अपने शरीर के व्यापारों को अशुभ से रोकता है और शुभ की ओर उनकी प्रवृत्ति कराता है। अपनी सभी दैनिक क्रियाओं में—खाने में, पीने में, सोने में, जागने मे, उठने मे, बैठने में, चलने में, ठहरने में, विहार में और धर्म प्रचार में, सर्वत्र सावधानी से काम लेता है।

जैन सन्त की साधना की व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रहे और उसमें किसी प्रकार की रुकावट न आने पाये, इसलिये साधु की आचार-संहिता में शास्त्रकारों ने अनाचीर्णों का व्याख्यान किया है। इन अनाचीर्णों की संख्या बावन है। अनाचीर्ण का अर्थ है अनाचरणीय—अर्थात्—साधु के द्वारा इनका आचरण वर्जित है। औद्देशिक, नित्य-पिण्ड, क्रीतकृत आदि बावन अनाचीर्णों का विवरण यहां विस्तार भय से देना संभव नहीं है। जिज्ञासु पाठक जैन धर्म ग्रन्थों में यत्र-तत्र उनका विवरण पढ़ सकते हैं।

भवनाशिनी बारह भावनाएं

'अन्तर्जगत् का प्रतिबिम्ब ही बाह्य जगत् है', यह उक्ति अक्षरशः सत्य है। विचार आचार का बीज है। जैसा बीज होगा वैसा ही उसका प्रतिफलन होगा। बीज आक का है तो फल कड़वे और विषाक्त ही होंगे। बीज अंगूर का है अंगूर के मधुर फल ही खाने को मिलेंगे। हमारी विचारधारा यदि विकृत है तो हमारा आचरण निश्चय से विकृत होगा। हमारी चिन्तन-धारा यदि पावन है तो हमारा आचरण भी अवश्यमेव पावन होगा। अतएव मानव जीवन को शुद्ध, बुद्ध, एवं प्रबुद्ध बनाने के लिये अन्तंजगत् का नियंत्रण परमावश्यक है। अन्त-र्जगत् का संचालन मन के ऊपर आश्रित है, इसलिये मन पर नियंत्रण होने से सारी मानवीय क्रियाएं सुधर सकती है, सन्मार्ग की ओर अग्रसर हो सकती है, परमसुख की ओर बढ़ सकती हैं और मोक्ष-मार्ग के परम-पद को प्राप्त कर सकती है। यही कारण है कि जैनाचार्य चिरकाल से मनकी साधना पर भी उतना ही बल देते आये हैं, जितना आत्म-साधना पर। मन की साधना के लिये, मन को सन्मुख रखने के लिये, श्रद्धा की स्थिरता के लिये और वीतरागता की भावना की अभिवृद्धि के लिये जैनागमों ने 'अनुप्रेक्षाओं-भावनाओं' का विधान किया है। बार-बार चिन्तन में प्रवृत्त होने को 'अनुप्रेक्षा' कहते हैं। उसी का दूसरा नाम भावना है। इस अनुप्रेक्षा या भावना के बारह प्रकार हैं :

१. **अनित्य भावना :** संसार के सभी पदार्थ अनित्य हैं, नश्वर हैं और कदापि स्थिर रहने वाले नहीं हैं। धन, ऐश्वर्य, अधिकार, परि-वार, माता-पिता, पत्नी, सगे-सम्बन्धी और मित्र—आदि सब नश्वर

हैं। लक्ष्मी सांयकालीन लालिमा के समान शीघ्र ही पलायमान होने वाली है, जल-बुद्बुद् के समान है, जीव का जीवन आकस्मिक गमन-शील है, युवावस्था जिस पर मानव को बड़ा अहंकार और गर्व होता है, देखते-देखते बादल की छाया के समान आखों से ओझल हो जाती है, संसार के सगे-सम्बन्धी असमय में ही छोड़कर चले जाते हैं। किसी विद्वान् ने ठीक ही तो कहा :

एकेऽद्य प्रातरपरे पश्चादन्ये पुनः परे।
सर्वे निःसीम्नि संसारे यान्ति कः केन शोच्यते ॥

शार्ङ्गधर पद्धति, ४१३७

अर्थात्—कतिपय ससार के प्राणी आज चले जा रहे हैं, कुछ कल चले जायेंगे, कुछ उसके पश्चात्, और बाकी के उनके बाद। सीमा-रहित इस ससार मे सभी जाने वाले है। कौन किसकी चिन्ता करे। और भी :

भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचंचला,
आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीनीलाम्बुवद्भंगुरम्।
लोलायौवनलालसास्तनुभृतामित्याकलय्य द्रुतं,
योगे धैर्यसमाधिसिद्धसुलभे बुद्धिं विदध्वं बुधाः ॥

भर्तृहरि, ३।३६

अर्थात्—अय ससार के विषयो मे खोए बुद्धिमान प्राणियो ! संसार के भोग, मेघमण्डल के मध्य मे चमकती हुई बिजली की चमक के समान अस्थिर है, मनुष्य की आयु, वायु के वेग से आहत बदली की टुकडी मे टिके हुए जल के समान क्षणभगुर है; युवावस्था में जागृत होने वाली मानव-मानस की लालसाएं भी अस्थिर हैं, अनित्य है। इसलिये सबका परित्याग करके धैर्ययुक्त समाधि द्वारा, जहां सफलता सुलभ है, योग का अर्थात् आत्मोद्धार का आश्रय लो।

श्रमण-संस्कृति की अनित्य भावना से भी उक्त भाव ही अभिप्रेत हैं। इसका कथन है कि ससार के अनित्य पदार्थों के आकर्षण में पड़कर जीव को नित्यानन्द—स्वस्थिति के वैभव से वंचित नही होना चाहिये।

अशरण भावना :

जीव को मृत्यु के पंजे से छुड़ा कर शरण देने वाला संसार में कोई

नहीं है। चाहे कोई चक्रवर्ती राजा भी क्यों न हो, उसकी बहुत बड़ी सैन्य शक्ति, उसका विशाल खजाना और उसके प्यारे पराक्रमी मित्र तथा बन्धु, कोई भी उसे मृत्यु से शरण नहीं दे सकते। मृत्यु से बचाव के लिये किसी पर भी भरोसा करना बेसमझी है। किसी विद्वान् का कथन है :

> **भगीरथाद्याः सगरः ककुत्स्थो, दशाननो राघवलक्ष्मणौ च।**
> **युधिष्ठिराद्याश्च बभूवुरेते, सत्यं क्व याता बत ते नरेन्द्राः॥**
> **शार्ङ्गधर पद्धति, ४००३**

अर्थात्—भगीरथ जैसे महान् तपस्वी राजा, राजा सगर, रावण जैसा बलशाली योद्धा, राम-लक्ष्मण जैसे वीर, युधिष्ठिर जैसे धर्मपुत्र, पता नहीं कहां चले गये। सब कालकवलित हो गये, कोई भी उनको शरण नहीं दे सका।

और भी :

> **भ्रातः कष्टमहो महान् स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्,**
> **पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननाः।**
> **उद्रिक्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते वन्दिनस्ताः कथाः,**
> **सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः।**
> **वही० ४१६४**

अर्थात्—हे भाई! कितने दुःख की बात है कि वह राजा इतना महान् था कि सदा माण्डलिक राजाओं के मण्डल से घिरा रहता था! उसकी सभा में कितने उच्च कोटि के विद्वान् और चतुर सभासद् थे! चन्द्रमुखी रानियों का, जो उसके रणवास को अलंकृत करती थीं, सौन्दर्य तो अनुपम ही था! कितने गर्वीले राजपुत्रों का समूह उसके आस-पास बैठा रहता था! उसके स्तुति करने वाले भाट-चारण भी कितने प्रतिभाशाली थे! किन्तु आज जिसकी शक्ति के कारण उस राजा की केवल मात्र स्मृति ही बाकी बच गई है, मैं उस काल-देवता को नमस्कार करता हूं।

जैन शास्त्रों में काल की इस अवश्यंभावी परवशता को ही अशरण भावना कहा है।

३. संसार भावना: संसार की वास्तविकता क्या है? इसमें

वास्तविकता क्या है ? इस प्रकार की चिन्तनधारा 'संसार-भावना' के अन्तर्गत आती है। संसार में बड़े से बड़े सम्पत्तिशाली, राज्याधिकारी और राज्य कर्मचारियों से लेकर राजा और अकिंचन तक सब दुखी है, कारण चाहे कुछ भी हों। किसी के मन में शान्ति नही है, यह वास्तविकता है। सब जन्म मरण के जाल में फसे हुए हैं, यह भी सत्य है। इस भव में जो अपना है, वह पर भव में पराया बन जाता है। इससे स्पष्ट है कि अपने-पराये की बुद्धि मात्र कल्पना है, वास्तविकता नही है। वास्तविकता यह है कि इस संसार में न कोई अपना है और न कोई पराया है।

४. एकत्व भावना : मोह-जाल मे फसा हुआ जीव अपने सगे सम्बन्धियो के लिये, मित्रों के लिये और अन्य अनेक प्रिय परिजनों के लिये अनेक प्रकार के कष्टों को सहनकर धनार्जन करता है, अनेक पाप कर्म करके तरह-तरह के कर्म-बन्ध करता है। वह यह कभी नही सोचता कि जब इनके विपाक का समय आयेगा, उस समय इनके फल को तुम्हे अकेले ही भोगना पड़ेगा। उस समय उनमें से कोई भी, जिनके लिये तू परेशान हो रहा है, तुम्हारे पास कर्म फल बांटने के लिये आने वाला नहीं है। जीव ने जब जन्म लिया था तो वह अकेला ही ससार में आया था और जब उसकी मृत्यु होगी तो वह अकेला ही ससार से चला जायेगा। उसका प्यारा से प्यारा भी कोई प्राणी उसके साथ नही जायेगा। केवलमात्र उसके कर्म ही उसके साथ जायेंगे। भर्तृहरि ने ठीक ही तो कहा है :

धनानि भूमौ, पशवश्च गोष्ठे; भार्या गृहद्वारि, जनः श्मशाने।
देहश्चितायां, परलोकमार्गे—कर्मानुगो गच्छति जीव एकः॥
भर्तृहरि, ३।३५

अर्थात्—मनुष्य के पास जितनी भी धन दौलत है सब पृथ्वी पर ही रह जाती है; पशुधन गोशाला मे खड़ा रह जाता है; पत्नी घर के दरवाजे पर खड़ी देखती रह जाती है; जन-समूह श्मशान घाट पर खड़ा देखता रहता है और मृतक शरीर को चिता पर रख दिया जाता है। परलोक के मार्ग पर कोई साथ नहीं जाता है। उस समय तो जीव को अकेले ही जाना पड़ता है। केवलमात्र जो कर्म उसने पूर्व भव में और इस भव में किये होते हैं, वे ही उसके साथ जाते हैं। इसप्रकार

की चिन्तन-धारा को श्रामणी भाषा में 'एकत्व भावना' के नाम से पुकारा जाता है।

५. अन्यत्व भावना : अज्ञानान्धकार से घिरा हुआ जीव यह समझने लगता है कि जो संसार है वही वह है। यह अज्ञानवश संसार से अपनी एकरूपता स्थापित कर लेता है और स्वयं की वास्तविकता को भूल जाता है। वास्तविकता यह है कि संसार के पदार्थ कुछ और हैं और वह उनसे सर्वथा भिन्न कुछ और है, और वह जिस वाहन को चला रहा है वह उससे सर्वथा भिन्न पदार्थ है। यदि चालक यह समझने लगे कि वह वाहन ही है या दूसरे शब्दों में उससे एकरूपता स्थापित कर ले और अपने अस्तित्व की वास्तविकता को भूल जाये तो वह चेतन होता हुआ जड़ में प्रवृत्ति के कारण जड़ता की ओर बढ़ेगा, उसकी बुद्धि जड़ हो जायेगी और जिसका परिणाम होगा वाहन की दुर्घटना। इस दुर्घटना में वाहन तो चकनाचूर होगा ही साथ-साथ वह भी मृत्यु का शिकार बन जायेगा। इसी प्रकार चेतन-जीव, जो शरीर रूपी गाड़ी को चलाता है, यदि भ्रान्तिवश या अज्ञानवश यह समझने लगेगा कि वह शरीर ही है, शरीर से भिन्न उसकी कोई सत्ता नहीं है तो वह अपने शरीर को तो दुर्घटनाग्रस्त करेगा ही और साथ-साथ स्वयं भी अनन्तकाल तक जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा हुआ अनेक प्रकार के नारकीय क्लेश भोगता रहेगा। क्लेश भोगना कभी भी जीव को रुचिकर नहीं है और यही कारण है कि कोई भी संसार का प्राणी दुःख नहीं चाहता, सुख का अभिलाषी है। दुःख दुष्कर्मों का परिणाम है और दुष्कर्म अज्ञान और मिथ्याज्ञान का परिणाम है। अज्ञान और मिथ्याज्ञान की निवृत्ति तभी हो सकती है जब जीव अपने चेतनत्व को संसार के सब पदार्थों से भिन्न समझे। इस भिन्नता का या अन्यत्व का पुनः पुनः जीव द्वारा चिन्तन करना ही अन्यत्व की भावना है।

६. अशुचि भावना : मानव मन में स्वाभाविकी काम-प्रवृत्ति को रोकने के लिये इन्द्रियों पर विजय पाने के लिये, ज्ञान-विषयक एकाग्रता को स्थिर रखने के लिये, संसार के मनोहर एवं प्रलोभनीय विषयों से मन को मोड़ने के लिये, कुमार्ग के कुत्सित गर्त में गिरने से जीव को बचाने के लिये, आत्म-कल्याण निमित्त वीतरागता की अभिवृद्धि के लिये, परमार्थ ज्ञान के संचय की समृद्धि के लिये, निःश्रेयस्-प्रशस्त-

पथ पर बिना किसी रुकावट के अबाध गति से चलने के लिये, जीव की अज्ञानजन्य भावना को अभिभूत करने के लिये, जीव की प्रच्छन्न मानसिक दुर्बलता को शक्ति प्रदान करने के लिये और जीव को आध्यात्मिकता के उच्च धरातल पर पहुंचाने के लिये संसार के प्राय: सभी धर्म-गुरुओ ने और धर्म विधि-विधान के विशेषज्ञ आचार्यों ने अज्ञान-वश पापाचरण के आधारभूत इस मानव कलेवर की निन्दा की है। किसी विद्वान् ने उक्त सत्य की पुष्टि करते हुए कहा है :

सर्वाशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिन: ।
शरीरकस्यापि कृते मूढा: पापानि कुर्वते ।।

नागानन्दम्, ४।७

अर्थात्—सब प्रकार की अपवित्रता के घर, किये उपकार को न जानने वाले, नाशवान् इस शरीर के लिये ससार के मूर्ख लोग बड़े-बडे पाप किया करते है।

इस प्रकार की भावना से मानव-मन में जो शरीर के प्रति मोह है वह नष्ट हो जाता है एव जिसके परिणामस्वरूप वैराग्य की ओर प्रवृत्ति बढती है। इसी का नाम अशुचि-भावना है।

७. **आस्रव भावना** : 'आस्रव' शब्द जैन धर्म ग्रन्थों का पारिभाषिक शब्द है। समवायाग सूत्र के पाचवे समवाय के अनुसार आत्मा में कर्मों के अनुसार और उनके आने के कारण को आस्रव नाम से पुकारा जाता है। मन, वचन और काय की सभी प्रवृत्तियां, जिनके द्वारा कर्म आत्मा की ओर आकर्षित होते रहते है, आस्रव है। जब तक उनका भलीभांति ज्ञान न हो जाये तब तक उनका निरोध संभव नही है। आस्रव ही वास्तव में जीव के कर्मबन्धन का कारण होना है। दूसरे शब्दों मे आस्रव को आत्मा की नगरी में प्रविष्ट होने के लिये प्रवेश द्वार कहा जा सकता है। साधना के पथ पर अग्रसर होने वाले मुमुक्षु जीव के लिये यह परमावश्यक है कि उसे उन सभी प्रवृत्तियो का ज्ञान हो जिनके कारण से कर्म आत्मा में प्रवेश पाते है। आस्रव को जन्म देने वाली जीव की वृत्तियां और प्रवृत्तिया इतनी अधिक हैं कि उनकी गणना करना संभव नहीं है। तो भी साधकों की और जिज्ञासुओं की सुविधा के लिये जैनाचार्यों ने मूलरूप में उनकी सख्या पांच बताई है :

१—मिथ्यात्व—विपरीत श्रद्धा रखना।

२—अविरति—अहिंसा, सत्य आदि से।

३—प्रमाद—उपादेय अनुष्ठान में अनादर की भावना।

४—कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ।

५—योग—मन, वचन और काया का व्यापार।

उक्त वृत्तियां और प्रवृत्तियां दुःख को जन्म देने वाली हैं। राग द्वेष, अज्ञान, मोह, हिंसा, असत्य, असन्तोष, प्रमाद, कषाय—आदि किस प्रकार आत्मा को कर्मों से लिप्त, कलुषित और दूषित कर देते हैं—इस प्रकार के चिन्तन को 'आस्रव भावना' कहते हैं।

८. संवर भावना : साधक मुनि जब कर्मों के आस्रव के कारणों को भलीभान्ति पहचान लेता है तो वह उनसे छुटकारा पाने के लिये उनसे विपरीत वृत्तियो का सहारा लेता है। ऐसा करने से आस्रव का निरोध हो जाता है। इस आस्रव के निरोध को ही सवर कहते हैं। आगम के शब्दों में :

> **पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे**
> **असबलचरिते............।**
>
> **उत्तराध्ययन, २९।११**

विपरीत वृत्तियों का अवलम्बन साधक की इस प्रकार सहायता करता है कि जब साधक यथार्थ में श्रद्धानिष्ठ बन जाता है तो मिथ्यात्वजन्य आस्रव का निरोध हो जाता है। जब वह अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांचों महाव्रतों का आचरण करने लगता है तो अविरतिजन्य आस्रव रुक जाता है। शास्त्रविहित अप्रमत्त अवस्था की व्यवस्था स्वीकार करने से प्रमाद-जन्य आस्रव निरुद्ध हो जाता है। वीतरागता की उच्च भूमि पर आरूढ़ होने से कषायों—क्रोध, मान, माया, और लोभ से उत्पन्न होने वाला आस्रव रुक जाता है और जब पूर्ण आत्मनिष्ठा की उपलब्धि हो जाती है तो योगजन्य आस्रव का निरोध स्वतः हो जाता है।

इसके अतिरिक्त मन, वचन और काय की सभी प्रकार की अप्रशस्त क्रियाओं को रोकने से, विवेकपूर्ण प्रवृत्ति के पालन से, क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि धर्म के दशलक्षणों को जीवन में उतारने से, अन्तःकरण में सच्ची वीतरागता की भावना के जागृत करने से और

सम्यक् चरित्र का आचरण करने से भी कर्मास्रव का निरोध हो जाता है।

चाहे कोई कितना ही उच्च कोटि का साधक क्यों न हो, योग क्रिया का पूर्ण रूपेण निरोध करना उसके लिये भी संभव नहीं है। चलना-फिरना, उठना-बैठना, खाना-पीना, वार्तालाप करना, पढ़ना-पढ़ाना, प्रवचन देना आदि-आदि सभी क्रियाएं साधक के लिये भी अनिवार्य हैं। जैन धर्म इन सब क्रियाओं का निषेध नहीं करता किन्तु उसका केवल यह कहना है कि इन क्रियाओं के पीछे यदि अविवेक काम करता है तो ये सब क्रियाएं आस्रव है किन्तु यदि इनके पीछे विवेक हो तो ये सब क्रियाएं संवर है।

कर्मबन्ध के कारणों के निरोध के इस चिन्तन को 'संवर भावना' कहते हैं।

९. निर्जरा भावना : नवीन आने वाले कर्मों का रुक जाना 'सवर' है किन्तु मात्र संवर से साधक मोक्ष प्राप्त करने में सफल नही हो सकता। एक नौका का उदाहरण इस भाव को और स्पष्ट कर देगा। किसी नदी में कोई नौका तैर रही है। उसमें अचानक ही कारणवश छिद्र हो जाएं तो उन छिद्रों द्वारा नौका में पानी का आ जाना आस्रव है, छिद्रों को बन्द करके यदि पानी के आगमन को रोक दिया जाये तो वह सवर है, परन्तु जो पानी नौका में प्रविष्ट हो चुका है उसे भी तो उलीच कर बाहर फेकना होगा, नौका की एवं उसमें बैठे प्राणियों की रक्षा के लिये। यह पानी को बाहर निकाल कर फेंक देना ही 'निर्जरा' है। आगमकार इस सत्य की पुष्टि करते हुए कहते हैं—

जहा महातलायस्स संन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिंचणाए तवणाए कमेणं सोसणा भवे॥

उत्तराध्ययन, ३०।५

अर्थात्—बडे जलाशय में रुके हुए जल का तो उलीचने से या सूर्य की गर्मी से ही शोषण हो सकता है। ठीक इसी प्रकार जो संचित कर्म अवशिष्ट हैं उनका भी साधक के लिये तपश्चर्या द्वारा क्षय करना होता है। निर्जरा का अर्थ है जर्जरित कर देना अर्थात् पूर्वबद्ध कर्मों को ऐसे ही झाड़ देना जैसे हम वस्त्र की धूल को झाड़ देते हैं।

इस कर्म निर्जरा के आचार्यों ने दो भेद किये हैं :

१—औपक्रमिक निर्जरा।

२—अनौपक्रमिक निर्जरा।

किसी कर्म के परिपाक होने से पहले ही यदि साधक अपनी तपश्चर्या द्वारा उस कर्म को उदय में लाकर क्षय कर देता है तो वह औपक्रमिक निर्जरा कहलाती है किन्तु यदि नियत अवधि में कर्म उदय होकर मिट जाते हैं तो वह अनौपक्रमिक निर्जरा कहलाती है।

साधक संवर द्वारा नवीन कर्मों के आस्रव को रोक देता है और तपश्चर्या द्वारा अर्जित कर्मों का क्षय करके पूर्ण-रूपेण निष्कर्म होकर मोक्षपथ की ओर बढ़ता है। परन्तु यह तपश्चर्या या साधना कोई सरल काम नही है। इसके लिये साधक को ससार के सभी पदार्थों के प्रति, यहां तक कि अपनी देह के प्रति भी पूर्ण अनासक्ति रखनी पड़ती है। इस अनासक्ति योग के परिणामस्वरूप साधक अविपाक निर्जरा के अमूल्य तत्व की उपलब्धि में सफल होता है। इस तत्व की शक्ति से वह कोटि-कोटि कर्मों के फल भोगे बिना ही एक क्षण में नष्ट कर देता है। इस प्रकार से साधक का जीव संसार में और देह में रहते हुए ऐसे अलिप्त रहता है—दोनों से—जैसे आग, पानी और कर्दम में पड़ा हुआ सोना अपने स्वरूप में शुद्ध बना रहता है।

इस प्रकार बन्धे हुए कर्मों को किस साधना द्वारा या प्रक्रिया द्वारा नष्ट कर देना—इस प्रकार की चिन्तन धारा को निर्जरा भावना कहा जाता है।

१०. लोक भावना : जैन शास्त्रों में लोक को पुरुषाकार माना गया है। यह लोक धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय एवं जीवास्तिकाय—इन छह द्रव्यों का भाजन है। इसका विस्तार चतुर्दश रज्ज्वात्मक है। ऊर्ध्व, मध्य और अधः—ये तीन विभाग हैं इसके। यह आत्मा इस लोक में अनादिकाल से जन्म-मरण करता आ रहा है। लोक का एक आकाश-प्रदेश जितना भी ऐसा स्थान नहीं है, जिसमें जीव ने अनंतबार जन्म-मरण ग्रहण नहीं किये हों। पुरुषाकार लोक के इस स्वरूप का चितन करना लोक भावना है।

११. बोधि दुर्लभ भावना : जिसके द्वारा आत्मा ऊर्ध्वगामी बनता

है, संसार में सार क्या है और असार क्या है—इसके विवेक की उपलब्धि जिससे प्राप्त होती है, जिसके प्रभाव से जीवन मोक्ष की प्राप्ति की सामर्थ्य प्राप्त करता है, वह ज्ञान 'बोधिज्ञान' के नाम से अभिव्यक्त किया जाता है। वह बड़ा ही दुर्लभ माना जाता है। उसकी दुर्लभता का चिन्तन करना 'बोधि-दुर्लभ' भावना है।

१२. धर्म भावना : धर्म के स्वरूप का, धर्म की महानता का, धर्म की उत्तमता का, धर्म के प्रशस्त प्रभाव का, धर्म को उपादेयता का, धर्म के शुभ परिणाम का, आत्म कल्याण के लिये धर्म की आराधना का और धर्माचरण से मानव जीवन की सफलता का चिन्तन करना धर्म भावना कहलाती है।

चार भावनाएं

जैन मुनि के जीवन को आध्यात्मिकता के उच्च धरातल पर पहुचाने के लिये, इन बारह भावनाओ के अतिरिक्त चार भावनाएं और भी हैं, जिनका विवरण निम्नलिखित है .

१—मैत्री भावना,
२—प्रमोद भावना,
३—करुणा भावना, और
४—मध्यस्थ भावना।

१. मैत्री भावना · अहिंसा महाव्रत के पालन के लिये यह परमावश्यक है कि साधक के मन मे प्राणी मात्र के प्रति मैत्री की भावना हो। दूसरे प्राणियो के प्रति आत्मीयता की भावना, उनके सुख में सुखी और दु:ख मे दुखी होने की भावना को मैत्री भावना कहते हैं। इस प्रकार की भावना की अन्त:करण मे स्थापना होने के पश्चात् मानव, दूसरे किसी प्राणी को दु:ख पहुंचाना तो दर किनार, दूसरे के दु:ख को अपना दु:ख समझकर व्याकुल हो उठता है और उसको उस कष्ट से मुक्त कराने के लिये कोई प्रयत्न बाकी नहीं रहता। जीव का भाव जब मैत्री भावना से पावन हो उठता है तो सहसा उसके मन के उद्‌गार इन शब्दों मे अभिव्यक्त होने लगते हैं—

मित्ती मे सव्वभूएसु,
वेरं मज्झं न केणई।

अर्थात्—संसार के सभी प्राणियों के प्रति मेरी मित्रता है, मेरा शत्रु तो कोई है ही नहीं।

इस प्रकार की मैत्री भावना का साधक के अन्तःकरण में विकास होने से उसकी आत्मा में विश्व के प्राणि मात्र के प्रति समता के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे-जैसे समता का विकास होता जाता है, वैसे-वैसे जीव में राग-द्वेष के भाव नष्ट होते जाते हैं। ऐसी स्थिति में वह आध्यात्मिक ज्ञान की उस उच्च भूमिका पर पहुंच जाता है जहां पहुंच कर उसे प्राणिमात्र में आत्मदर्शन होने लगता है। इस स्थिति में पहुंचे हुए साधक या जैनमुनि के अन्तःकरण में हिंसा की भावना की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। अहिंसा के सिद्धान्त को प्रमुख मानने वाले श्रमण धर्म की और श्रमण कर्म को मैत्री भावना रीढ़ की हड्डी है।

२. प्रमोद भावना : गुणवान् व्यक्तियों को देखकर मन में प्रसन्नता का अनुभव करना 'प्रमोद भावना' कहलाती है। प्रायः लोक में ऐसा देखा जाता है कि गुणवान् को देखकर गुणवान् ही प्रसन्न होते हैं। ईर्ष्यालु गुणवानों को देखकर दुखी हो जाते हैं। किसी विद्वान् का कथन है :

> मान्या एव हि मान्यानां मानं कुर्वन्ति नेतरे।
> शम्भुर्बिभर्ति मूर्धेन्दुं स्वर्भानुस्तं जिघृक्षति॥
> सु०र०भा०, पृष्ठ ४५, श्लो० १७

अर्थात्—जो स्वय गण्यमान्य हैं वे ही सम्मानयोग्य गुणिजनों का सम्मान करते है दूसरे नही। भगवान् शिव तो चन्द्रमा को अपने मस्तक पर धारण करते है और राहु उसको पकड़ कर खा जाना चाहता है।

संसार में शिव और चन्द्र कम है, राहुओं की संख्या अधिक हैं। राहु के समान संसार के ईर्ष्यालु जीव दूसरों के यश को, समृद्धि को, और सम्मान को सहन नही कर सकते। किसी कवि के शब्दों में :

> परवृद्धिभिराहितव्यथः स्फुटनिर्भिन्नदुराशयोऽधमः।
> शिशुपालवधम्, १६।२३

अर्थात्—दूसरों को समृद्ध होते देखकर दुष्टों का हृदय फटने लगता है।

शार्ङ्गधर पद्धति में पुरुषों की चार प्रकार की विधाओं का निर्देश है :

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये,
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥
शार्ङ्गधर पद्धति, ४६५

अर्थात्—एक प्रकार के तो वे सत्पुरुष होते हैं जो अपने स्वार्थ का परित्याग करके दूसरों का भला करते हैं। दूसरी कोटि के वे सामान्य पुरुष होते हैं जो दूसरों का भला अपने स्वार्थ की हानि न होने पर ही करते हैं। तीसरे प्रकार के वे मनुष्य रूपी राक्षस होते हैं जो अपने स्वार्थ के लिये दूसरों के हित को हानि पहुंचाते हैं। अपना कोई स्वार्थ सिद्ध न होने पर भी जो दूसरो के हित को हानि पहुचाते हैं, ऐसे चौथी कोटि के पुरुषों का क्या नाम दिया जाये, यह समझ मे नही आता।

तीसरी और चौथी कोटि के लोगों की ससार में कोई कमी नहीं जो दूसरो की सम्पन्नता को देखकर जला करते है और उनको हानि पहुंचाना चाहते है। इस प्रकार की ईर्ष्या का सद्भाव साधक के लिये घातक है। उसे इससे मुक्त रखने मे लिये ही प्रमोद की भावना का विधान है। दूसरों को समुन्नत अवस्था में देखकर साधक को उल्लास से भर जाना चाहिये। जब तक जीव मे ईर्ष्या की भावना का नाश नही हो जाता तब तक उसमें अहिंसा आदि महाव्रत टिक नही सकते, इसलिये प्रमोद की भावना का साधक मे होना परमावश्यक है।

३. कारुण्य भावना : किसी वेदनाग्रस्त प्राणी को देखकर उसके प्रति अनुकम्पा जागृत होना और उसके दुःख का निवारण करने के लिये भरसक प्रयत्न करना 'करुणा भावना' है। जीव में इस प्रकार की भावना के सजीव होने के परिणामस्वरूप वह संसार में किसी भी प्राणी को कष्ट पहुंचाना नही चाहेगा। किसी और ने भी यदि किसी को कष्ट पहुंचाया हो तो वह उसका निवारण करने का प्रयत्न करेगा। कारुण्य की भावना के प्रभाव से भी अहिंसादि महाव्रतों का साधक सरलता से पालन कर सकता है।

४. मध्यस्थ भावना : ऐसा व्यक्ति जिससे अपने विचार मेल न खाते हों, जो सत् शिक्षा देने पर भी न समझता हो, जिसको सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न फलीभूत होता दिखाई न दे रहा हो, उसके प्रति

मध्यस्थ भाव रखना—मध्यस्थ भावना है। किसी आचार्य ने इन चारों भावनाओं को बड़े ही सुन्दर ढंग से एक सूत्र में इस प्रकार ग्रथित किया है :

> सत्वेषु मैत्री, गुणिषु प्रमोदं,
> क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
> मध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ,
> सदा ममात्मा विदधातु देव ॥
>
> —आचार्य अमित गति, परमात्म द्वात्रिंशिका,

अर्थात्—हे प्रभो ! मैं सदा विश्व के प्राणिमात्र के प्रति मैत्री की भावना, गुणवान् प्राणियों के प्रति मन में उल्लास, दुःख से पीड़ित जीवों के प्रति अनुकम्पा की भावना, अपने से विपरीत आचरण करने वाले के प्रति मध्यस्थ भावना, रखता रहूं।

दशविधधर्म विवरण

अपने ही विविध कर्मों के आवरण के कारण आत्मा जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़कर अनेक प्रकार के दुःख भोगता रहता है। यह चक्र तब तक चलता रहता है जब तक वह अपने शुद्ध स्वरूप को जान नहीं लेता, पहचान नही लेता। वास्तव में जन्म लेना और मरना आत्मा का स्वभाव नही है। वह तो अमर-तत्व है। मरना उसकी प्रकृति और प्रवृत्ति से सर्वथा विपरीत है। यही कारण है कि वह मरना नही चाहता, मृत्यु से भयभीत हो जाता है। वह तो सदा जीना चाहता है, जो इस शरीर द्वारा संभव नही है। जो शरीर स्वय नाशवान् है वह आत्मा को अमरता कैसे प्रदान कर सकता है ? मानवात्मा विश्व के अन्य योनियों में उत्पन्न होने वाले जीव-जन्तुओं के समान अप्रबुद्ध नहीं है। वह विवेकशील प्राणी है, उसका विवेक समय-समय पर जागृत होता रहता है। उस विवेक के कारण वह वर्तमान की परिस्थितियों की चिन्ता तो करता ही है किन्तु साथ-साथ भविष्य के जीवन की चिन्ता भी उसके मानस पटल पर अंकित होती रहती है। वह भलीभांति जानता है कि उसका शरीर नाशवान् है, वह उसमें रहता हुआ अमर नही बन सकता। यह जानते हुए भी वह अमरत्व की भावना को छोड़ नही सकता। छोड़े कैसे, अमरता उसका वास्तविक स्वरूप जो ठहरा। अज्ञान के आवरण के कारण वह अमरता का सही मार्ग न पाकर अमर होने के सांसारिक मार्ग अपनाता है।

कभी वह असंख्य धनराशि खर्च करके अपने नाम से स्मारक खड़े करके अमर होने का प्रयत्न करता है, कभी वह तीर्थों पर विशाल धर्मशालाएं बनवाकर अपने नाम पर अमरता की छाप लगाने का प्रयास करता है, कभी वह विशाल मन्दिरों का निर्माण करके अपने नाम को रोशन करता हुआ अमर बनना चाहता है, कभी भिखारियों मे अन्न वस्त्र बांटकर अपने नाम के पूर्व दानवीर की उपाधि लगाकर अमर बनने की भावना व्यक्त करता है। कभी नई-नई शिक्षण संस्थाएं और चिकित्सालय खोलकर अमर बनने की तृष्णा की पूर्ति करना चाहता है और कभी अनेक तीर्थों में गोते लगाकर और यह कल्पना कर कि उसके सारे पाप धुल गये है, अमर लोक पहुंचने का प्रमाण-पत्र पाकर अमरता की इच्छा रखता है। यद्यपि उक्त सांसारिक साधनों द्वारा वह अमरता प्राप्त नही कर सकता किन्तु जीव मे जो अमरत्व का बीज है उसकी अभिव्यक्ति उसके प्रयत्न में स्पष्ट परिलक्षित होती है। अज्ञानवश जीव देख नहीं पाता कि वास्तव मे उसे अमरत्व प्रदान करने की शक्ति कही बाह्य जगत में नही है, वह तो उसके अन्दर ही विद्यमान है। अमरत्व प्रदान करने की शक्ति तो कर्म मे है जिसका करने वाला वह स्वयं है। जैन शास्त्रों में दश प्रकार के धर्मों का विधान किया है जिनके निष्पादन से आत्मा अमरता की सोपान पर आरूढ़ हो सकता है। जैन मुनि के लिये इन धर्मों का पालन नितांतावश्यक माना गया है।

१. क्षमाधर्म : अहिसा महाव्रत का 'क्षमा' को एक अग ही मानना चाहिये। अपराधी के अपराध को क्षमा करने से और अपने अपराध के लिये क्षमा याचना करने से आत्मा विकारहीन एव पावन बनता है। जैन मुनि को तो क्षमा धर्म का पालन बडी दृढ़ता से करना पड़ता है। उसके लिए तो आगम का विधान है कि यदि उससे कोई अपराध हो जाये तो वह अपने सब काम छोड़कर उस व्यक्ति से क्षमा याचना करे जिसका उसने अपराध किया हो। आहार, शौच, स्वाध्याय सभी छोड़कर उसे सर्वप्रथम क्षमा मांगनी चाहिये। तीर्थंकरों और आचार्यों के इस कठिन विधान के परिणामस्वरूप ही केवल साधुओं में नही किन्तु श्रावकों में भी क्षमा मागने की परिपाटी चिरकाल से अबाध-गति से चली आ रही है। श्रमण धर्म का सबसे बड़ा पर्व 'पर्यूषण'

के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें साधु और श्रावक दोनों विश्व के प्राणि-मात्र से ज्ञात और अज्ञात रूप में किये गये अपराध के लिये क्षमा-याचना करते हैं। जो व्यक्ति किये गये अपराध के लिये क्षमा प्रार्थना करता है, उसका अर्थ है कि वह अपराधजन्य पाप या दोष के कालुष्य को भलीभांति जानता है। उसका यह कालुष्य ज्ञान उसको निश्चित रूप से आगे के लिए अपराध करने को रोकेगा। जिसके फलस्वरूप वह जीवन की उस उच्च अवस्था में पहुंच जायेगा, जहां पहुंच कर वह सर्वथा अपराध करने की प्रवृत्ति से मुक्ति प्राप्त कर लेगा। अपराध की निवृत्ति से मोक्ष का मार्ग सुगम हो जायेगा।

२. मार्दव धर्म : हृदय के कोमल एवं नम्रतापूर्ण व्यवहार को मार्दव धर्म कहते हैं। विनय मार्दव की आधार शिला है। जैन धर्म को विनय मूलक ही माना गया है :

धम्मस्स विणओ मूलं।

अर्थात्—धर्म का मूल विनय की भावना है। इस मार्दव धर्म की साधना के लिये जैन साधु के लिये यह शास्त्र में विधान है कि वह जाति, कुल, धन, ऐश्वर्य, बुद्धि, बल, अधिकार आदि सभी प्रकार के मदों का त्याग करे। इनका मद अपने से छोटों के प्रति हीनता की भावना को जन्म देता है। हीनता की दृष्टि से समता की भावना नष्ट होने लगती है, जो साधु की साधना के लिये बड़ी घातक है। अतएव जैन मुनि को चाहिये कि वह सब प्रकार के मदों का त्याग करके मार्दव धर्म का आचरण करे।

३. आर्जव धर्म : आर्जव का अर्थ है 'ऋजुता—सरलता की भावना।' आर्जव का विपरीतार्थक शब्द है कुटिलता। जहां कुटिलता रहेगी वहां आर्जव धर्म नहीं रह सकता। छल, कपट, प्रपंच और पाखण्ड—ये सब कुटिलता की सन्तान हैं। आर्जव धर्म की साधना के लिये कुटिलता तथा उसके सारे परिवार का जैन साधक को त्याग करना होता है। संसार के दैनिक जीवन के लिये तो आर्जव धर्म उपादेय है ही किन्तु धार्मिक जीवन के लिये तो इसका महत्व और भी अधिक है। आर्जव धर्म को अन्तःकरण में उतारने से मानव की बुद्धि निर्मल होती है। बुद्धि की यह निर्मलता ही सत्य को ग्रहण करने में समर्थ होती है। साधक सत्य का उपासक है, इसलिये आर्जव धर्म का

पालन करना उसके लिये नितान्तावश्यक है।

४. शौच धर्म : जैन मुनि के लिये लोभ का त्याग करना भी परमावश्यक है। इस लोभ के त्याग का ही दूसरा नाम शौच धर्म है। तुच्छ से तुच्छ वस्तु का लोभ भी उसे त्याग देना चाहिये। लोभ करने से सद्‌गुणों की हानि होती है, इस कारण मुनि के लिये यह आवश्यक है कि वह शौच धर्म का पालन करे।

५. सत्य धर्म : सत्य की गणना तो पांच महाव्रतों में की जा चुकी है फिर भी दशविध धर्मों में सत्य की गणना सत्य की महानता को और विशिष्टता को प्रकट करती है। सत्य वास्तव में महान् है और यही कारण है कि जैन शास्त्रो में सत्य की महिमा का बड़ा बखान है। यहां तक कि सत्य को साक्षात् भगवान् कहा है—

तं सच्चं भगवं।

प्रश्न व्याकरण, २।२

सत्य को संसार का सारभूत तत्व माना है।

वही०

सत्य को महासागर से भी गभीर कहा है, मेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर रहने वाला बताया है, चन्द्र मण्डल से भी अधिक सौम्य कहा है, सूर्य मण्डल से भी अधिक तेजस्वी माना है, शरत् कालीन आकाश से भी अधिक निर्मल कहा है और गन्धमादन पर्वत से भी अधिक सौरभमय बताया है।

६. संयम धर्म : मानसिक दुष्प्रवृत्तियों पर, अशुभ कामनाओ पर और प्रलोभनीय ससार के विषयो की ओर आकर्षित होने वाली इन्द्रियो पर अकुश रखने को सयम धर्म कहते है। संयम की महानता का भी शास्त्रों में बडा वर्णन मिलता है।

सूयगड़ांग सूत्र के अनुसार :
जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥

सूत्रकृतांग, १।८।१६

अर्थात्—कछुआ जिस प्रकार अपने अंगों को अन्दर में समेट कर खतरे से बाहर हो जाता है, वैसे ही साधक भी अध्यात्मयोग के द्वारा

अन्तर्मुख होकर अपने को पापवृत्तियों से सुरक्षित रखे।

और भी :

जा उ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी।
जा निरस्साविणी नावा, सा उ पारस्स गामिणी॥

उत्तराध्ययन, २३।७१

अर्थात्—जिस नौका में छिद्र हैं वह नदी के पार नही पहुंच सकती किन्तु जो नौका छिद्रों से रहित है वही पार पहुंच सकती है। असंयम छिद्र हैं, उन छिद्रों को रोक देना संयम हैं। सारांश यह है कि संयमी आत्मा ही संसार रूपी नदी को पार कर सकता है।

इस संयम को चार प्रकार का माना है :

चउव्विहे संजमे—
मणसंजमे, वइसंजमे, कायसंजमे,
उवगरणसंजमे।

स्थानांगसूत्र, ४।२

अर्थात्—मन का सयम, वाणी का संयम, शरीर का संयम और उपकरण-सामग्री का संयम, ये चार प्रकार के संयम होते हैं।

इन चारों प्रकार के संयमों का पालन करना संयमधर्म कहलाता है, जिसका पालन करना प्रत्येक जैन साधु का परम कर्तव्य है। जैन धर्म के अनुसार कामनाएं आकाश के समान अनन्त है, जिसने भी इन पर नियन्त्रण कर लिया, उसने समझो अपने सब दुखों का अन्त कर दिया।

७. तप धर्म : तप धर्म की गणना अहिंसा और संयम के साथ की गई है और इसे भी अहिंसा और संयम के समान उत्कृष्ट धर्म कहा है और यह भी कहा गया है कि तप धर्म का पालन करने वाले को तो देवता भी नमस्कार करते है। तप के द्वारा ही साधक अपने कर्मों का क्षय करके मोक्षपथगामी बनता है। तप को जैनागमों में उस अग्नि का रूप दिया है जिसमें जलकर कर्म भस्म हो जाते हैं :

तवो जोई जीवो जोई ठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजमजोगसंती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं॥

उत्तराध्ययन, १२।४४

अर्थात्—तप ज्योति-अग्नि है। जीव ज्योति-स्थान है। मन, वचन और काया के योग सुवा—आहुति देने की कड़छी है। शरीर कारीषांग-अग्नि प्रज्वलित करने का साधन है। धर्म जलाया जाने वाला ईंधन है। संयमयोग शान्तिपाठ है। मैं इस प्रकार का यज्ञ-होम करता हूं, जिसे ऋषियों ने श्रेष्ठ बताया है।

और शास्त्र में यह भी कहा है

भवकोड़ी—संचयं कम्मं तवसा निज्जरिज्जई।

वही, ३०।६

अर्थात्—करोड़ों भवों के किये हुए कर्म भी तप की अग्नि से नष्ट हो जाते हैं।

तप का मूल धैर्य है :

तवस्स मूलं धिती।

निशीथचूर्णि, ८४

मुनि को चाहिये कि वह अपने कर्मों की निर्जरा के लिये तपश्चर्या के समय अनेक विघ्नबाधाओं के आने पर भी अपने मन की धैर्य शक्ति को न खोए और अपनी दृढता और स्थिरता बनाये रखे।

भारत की कतिपय संस्कृतियों मे आत्म-कल्याण के लिये बाह्य तपश्चर्या के प्रकारों पर अधिक बल दिया जाता है। ग्रीष्म ऋतु में चारो ओर अग्नि जलाकर बीच के रिक्त स्थान में बैठ जाना; हेमन्त ऋतु मे जल में खड़े हो जाना, कांटों पर लेट जाना, धूनी तपना, एक पैर के बल पर खड़ा होजाना आदि आदि अनेक प्रकार से काया को क्लेश देकर आत्मोद्धार की साधना की जाती है। इन तपश्चर्या की बाह्य क्रियाओ में आत्मा के गुण-दोषों से विशेष सम्बन्ध नही है। जैन संस्कृति में तो उसी तो तप माना है जिससे आत्मा के गुणों का पोषण होता हो। जैन ग्रन्थों में तप को दो भागों में बाटा है : बाह्य तप और आभ्यन्तर तप। एकाशना, बेला, तेला आदि उपवास करना और अधिक प्रिय रसों का या कुछ वस्तुओं के प्रयोग का सदा के लिये त्याग कर देना आदि बाह्य तप है और स्वीकृत अपराधों के लिये क्षमा-याचना और पश्चात्ताप, गुरुजनों के प्रति विनय और सेवा की भावना, स्वाध्याय और व्युत्सर्ग आभ्यन्तर तप कहलाते हैं।

८. त्याग धर्म : सुख सुविधा की या ऐश्वर्य की जो सामग्री प्राप्त नहीं है उसके लिये लालायित न होना और जो उपलब्ध है उसके प्रति कृतज्ञता या आसक्ति की भावना न रखना 'त्याग धर्म' कहलाता है।

कर्मक्षय के लिये जैसे तप धर्म की आवश्यकता है वैसे ही त्याग धर्म की भी। शास्त्र का कथन है :

> णहि णिरवेक्खो चागो,
> ण हवदि भिक्खुस्स आसय विसुद्धी।
> अविसुद्धस्स हि चित्ते,
> कहं णु कम्मक्खओ होदि॥
>
> प्रवचनसार ३।२०

अर्थात्—जब तक निरपेक्ष—आशाप्रत्याशारहित त्याग की भावना उत्पन्न नही हो जाती, तब तक साधक की चित्तशुद्धि कैसे हो सकती है और जब तक चित्त-शुद्धि नही होती तब तक कर्मों का क्षय कैसे संभव हो सकता है ?

जीव के अधिकतर दुःखों का कारण आशा है, तृष्णा है और नये-नये विषयों की कामना है। कामनाओं का कोई अन्त नही है। जैसे सागर में उठने वाली एक लहर सहस्रों लहरों को जन्म देती है, ठीक वैसे ही एक कामना से अनेकों कामनाएं उत्पन्न होती रहती हैं। अधिकाधिक पाकर भी जीव सन्तुष्ट नहीं होता। शास्त्रकार कहते हैं :

> तणकट्ठेहि व अग्गी, लवणजलो व नईसहस्सेहिं।
> न इमो जीवो सक्को, तिप्पेउं कामभोगेउं॥
>
> आतुरप्रत्याख्यान, ५०

अर्थात्—जिस प्रकार घास से और लकड़ी से आग कभी तृप्त नहीं हो सकती और हजारों नदियों के जल से समुद्र तृप्त नही हो सकता, ठीक इसी प्रकार राग में आसक्त आत्मा सांसारिक कामनाओं से और भोगों से कभी तृप्ति नही प्राप्त कर सकता।

जब जीवन मे त्याग की भावना आ जाती है तो मानव अल्प सामग्री से ही सुखी रहता है और सन्तोषमय जीवन व्यतीत कर लेता है परन्तु जब लालसा, लोभ और तृष्णा से अभिभूत होता है तो प्रचुर मात्रा में भोग सामग्री पाकर भी सन्तुष्ट नहीं होता, अशान्त रहता है,

व्याकुल रहता है और दुखी होता रहता है और अधिक पाने के लिये। वर्तमान युग में आसक्ति के कारण ही वस्तु-वितरण का संतुलन नहीं है। संतुलन की विषमता के कारण ही अनेक प्रकार की आर्थिक एवं सामाजिक जटिल समस्याएं राज्य सरकार एवं प्रजा को परेशान कर रही हैं। यदि त्याग धर्म के महत्व को लोगों ने समझा होता तो इन समस्याओं का बड़ी सरलता से समाधान हो सकता था।

९. **अकिंचनता धर्म** : अकिंचनता को यदि त्याग धर्म का परिणाम कह दें तो अत्युक्ति न होगी। न एक पैसा भी अपने पास रखना, न किसी वस्तु को अपना समझना और न ही किसी पदार्थ पर ममत्व रखना अकिंचनता धर्म है। ममत्व दुःख का मूल कारण है और निर्ममत्व सुख का। जिस वस्तु के प्रति हमारी ममता है, वह जब खो जायेगी या नष्ट हो जायेगी तो जीव दुःख पायेगा और वेदना ग्रस्त हो जायेगा। जिस पर ममता नही है वह बेशक कभी भी नष्ट हो जाये, उसकी चिन्ता कभी नही सताती। इसलिये दुःख के मूल कारण ममत्व का साधक को त्याग करना चाहिये। शास्त्र का विधान है :

ममत्तबंधं च महब्भयावहं।
उत्तराध्ययन, १९।९८

अर्थात्—ममत्व का बन्धन जीव को महान् भय देने वाला है।

१०. **ब्रह्मचर्य धर्म** : सब प्रकार के काम विकारों से मुक्त होकर अपनी आत्मा में विचरण करने का नाम ब्रह्मचर्य धर्म है। जैन मुनि के तो मुनित्व का आधार ही ब्रह्मचर्य को माना गया है :

स एव भिक्खू जो सुद्ध चरति बंभचेरं।
प्रश्न व्याकरण, २।४

अर्थात्—जो शुद्धभाव से ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वास्तव मे वही मुनि कहलाने के योग्य है।

साधना पथ के पथिक मुनि चान्दमल जी

ऊपर जो हमने श्रामणी साधना का संक्षेप से विवेचन किया है, उसका उद्देश्य पाठकों को सामान्य रूप से जैन सन्त की दैनिक एवं सार्वकालिक, धार्मिक एव आध्यात्मिक क्रियाओं का परिचय कराना तो

है ही, साथ-साथ इस बात का ज्ञान कराना भी है कि जैन मुनियों को मोक्ष-मार्ग के प्रशस्त-पथ पर आगे बढ़ने के लिये किन-किन ऊंची-नीची टेढ़ी-मेढ़ी आकस्मिक विघ्नाक्रांत विषम घाटियों को पार करना होता है। जो अडिग रहते हैं, वे आध्यात्मिकता की उच्च भूमिका पर पहुंचने में समर्थ हो जाते हैं और जो ज्ञान के शस्त्र डाल देते हैं वे कषाय रूपी शत्रुओं से पराजित होते हैं। कबीर ने ठीक ही तो कहा है :

यह तो घर है प्रेमका, खाला का घर नाहि।
शीश उतारे भुई धरे, तो पैठे घर माहि॥

अर्थात्—यह आध्यात्मिक मार्ग तो प्रेम का घर है (जीव मात्र के प्रति प्रेम अपने प्रति प्रेम)। इसमें तो वही प्रवेश पा सकता है जो अपनी जान की बाजी लगाकर इस पर चलता है। यह कोई मौसी का घर नही है। मौसी के घर जैसे स्वागत सत्कार का आनन्द मिलता है, वैसा यहां मिलने वाला नही है। साराश कि यह सरल मार्ग नही है। यह तो त्याग, तपस्या और तपश्चर्या का मार्ग है।

महाव्रत-पालन

मुनि चान्दमल जी महाराज, कर्मक्षय की आधार शिला पर आधारित, श्रमण संस्कृति के परम पावन सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित और प्राणिमात्र के कल्याण हित निर्धारित मोक्ष पथ पर उतर कर कभी डगमगाये नहीं, घबराये नहीं और संसार के बाह्य प्रलोभनों में आये नही। उन्होंने जिस प्रशस्त आध्यात्मिक मार्ग को दीक्षा के समय अंगीकार किया था उसका अन्त तक मन से, वाणी से और कर्म से निर्वाह किया। आजीवन त्रस और स्थावर सभी प्रकार के जीवों की हिंसा तन से, मन से और काय से न करने का, न कराने का और न अनुमोदन करने का जो प्रथम अहिंसा महाव्रत अंगीकार किया था उसका उन्होंने शास्त्रों के सूक्ष्म अहिंसा के नियमों के अनुसार पालन किया।

सत्य महाव्रत के पालन में भी उन्होंने कोई प्रयत्न बाकी नहीं रखा। मन, वाणी और कर्म से वे सदा सत्य का आचरण करते रहे। वे सत्य को भगवान् मानकर ही उस पर आचरण करते थे। मधुर भाषी तो वे स्वभाव से ही थे। वे सदा परिमित, हितकर और निर्दोष

भाषा का प्रयोग करते थे। उन्होंने भूलकर भी कभी ऐसे असत्य शब्दों का प्रयोग नहीं किया जिनसे हिंसा को किसी भी प्रकार से प्रोत्साहन मिलता हो। इस प्रकार सत्य महाव्रत के पालन में भी उनके जीवन में कोई त्रुटि नहीं आई।

साधु के लिये विहित आचार संहिता के अनुसार ही वे किसी वस्तु की आवश्यकता होने पर उसके स्वामी की आज्ञा लेकर ग्रहण करते थे। यहां तक कि अपने साधु के भी किसी उपकरण की आवश्यकता उनको होती थी तो उससे पूछकर लेते थे। कहीं तीसरे महाव्रत का गफलत में भी भग न हो जाये इसके लिये सर्वदा सचेत रहते थे। इस प्रकार अचौर्य महाव्रत का पालन भी मुनि चान्दमल जी ने बड़ी लग्न से किया था।

ब्रह्मचर्य महाव्रत की तो वे साक्षात् प्रतिमा थे। आत्मा मे आचरण करना ध्यान योग द्वारा, चिन्तन-मनन द्वारा और माला द्वारा उनकी दैनिक अनुल्लंघनीय चर्या थी। ब्रह्मचर्य के जिन अतिकठोर नियमों का शास्त्र में विधान है, उन सबका उन्होंने तन, मन और काय से पालन किया। ब्रह्मचर्य का तेज, झलक और प्रकाश उनके चेहरे पर दमकता था, चमकता था और झलकता था। यह तेज उत्तेजक नहीं था किन्तु परम शान्ति की कान्ति लिये हुए था। 'सब तपों में ब्रह्मचर्य उत्तम तप है।' उन्होंने इस शास्त्र वचन के रहस्य को भलीभान्ति समझ कर उसे जीवन मे उतारा था। शास्त्र का यह कथन कि ब्रह्मचर्य बडा ही दुष्कर व्रत है' इस पर ध्यान न देते हुए उन्होंने इसे सुकर बनाकर दिखा दिया था। ब्रह्मचर्य की आराधना करने से उनमें शील, तप और विनय आदि सभी गुण आ गये थे। ब्रह्मचर्य का पालन करके उन्होंने मुनि के वास्तविक स्वरूप का उदाहरण प्रस्तुत कर दिया था। ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये जिस विवेकशक्ति की आवश्यकता है, वह उनमें कूटकूट कर भरी हुई थी। इस प्रकार चौथे महाव्रत का पालन करने वाले अग्रगण्य जैन मुनियों में उनकी गणना होती थी।

अपरिग्रह महाव्रत के पालन का आरंभ तो उन्होंने उसी समय कर दिया था जब सब प्रकार के धनधान्य से, सम्पत्ति से और पशुधन से परिपूर्ण अपने पीपलिया गांव के घर का परित्याग करके स्वामी जी श्री नथमल जी महाराज के चरणों में आत्म-कल्याण के निमित्त शरण

थी थी। वे चाहते तो सम्पन्न घर में रहकर गृहस्थ जीवन के सभी भोगों को भोग सकते थे किन्तु वे तो पूर्वभवों में अर्जित ऐसे संस्कार लेकर आये थे कि उनको सांसारिक विषयों में कुछ भी आकर्षण दिखाई नहीं देता था। वे उनकों ऐसे ही त्याग कर चले आये थे जैसे सांप अपनी कँचुली छोड़कर चल देता है और फिर पीछे मुड़ कर नहीं देखता। मुनि चान्दमल जी महाराज ने भी पीछे मुड़कर नहीं देखा। देखते भी कैसे वे तो आध्यात्मिक मार्ग के अग्रगामी जीव थे। वे वास्तव में वीरप्रभु के उपासक थे। वीर सदा आगे ही बढ़ा करते हैं, वे पीछे मुड़कर नहीं देखा करते।

समिति पालन

बडी सावधानी से, जीवों की रक्षा निमित्त चार हाथ आगे की भूमि देख के चलकर 'ईर्यासमिति' का ; मधुर, सत्य, हितकर और मित भाषा का प्रयोग करके, 'भाषा समिति' का; सदा निर्दोष और शुद्धाहार ग्रहण करके 'एषणा समिति' का; जीव जन्तुओं की हिंसा को ध्यान में रखते हुए, वस्तुओं को उठाने-रखने की सावधानता द्वारा 'आदान निक्षेपण समिति' का; जीवोत्पत्ति के भय से मलमूत्र का उपयुक्त स्थान पर विधि पूर्वक विसर्जन करके 'परिष्ठापनिका समिति' का मुनि चान्दमल जी महाराज ने भलीभान्ति पालन करके पांचों समितियों को जीवन मे क्रियान्वित किया था।

त्रिगुप्ति-आचरण

अपने मन को अशुभ, घृणित, निन्दनीय एवं कुत्सित संकल्पों से हटाकर 'मनोगुप्ति' का; कटु, कठोर, अहितकर एवं असत्य वाणी का प्रयोग न करके 'वचन गुप्ति' का और अपने शरीर को दुष्कर्मों से निवृत्ति करके शुभ कर्मों में लगाकर एवं दैनिक शारीरिक क्रियाओं में सावधानी रखकर स्वामीजी ने तीनों गुप्तियों का पूर्ण रूपेण पालन किया था।

अनाचीर्ण के त्यागी

जैन साधु के लिये जैन शास्त्रों में बावन अनाचीर्णों का विधान किया है। 'अनाचीर्ण' पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है—ऐसी क्रियाएं जिनका आचरण साधु के लिये वर्जित है। साधु के निमित्त

बने भोजन को ले लेना, सदा एक ही घर से आहार ग्रहण कर लेना—इत्यादि इत्यादि बावन प्रकार की सभी क्रियाओं का मुनि चान्दमल जी महाराज ने कभी आचरण नहीं किया।

बारह भावनाओं का आत्मसात्करण

१. **अनित्य भावना :** धर्म की स्थिरता के लिये वीतरागता की अभिवृद्धि के लिये जैन शास्त्रों में विहित भावनाओं के चिन्तन और मनन में मुनि चान्दमल जी सदा लीन रहते थे। घर के सुख वैभव का त्याग उन्होंने संसार के पदार्थों को अनित्य समझ कर ही किया था। दीक्षा के पश्चात् गुरुमुख से धर्मशास्त्रों का अध्ययन करके तो उनके ज्ञान के चक्षु और भी खुल गये थे। वे भलीभान्ति संसार की निःसारता और उनके विषयों की अनित्यता से परिचित हो गये थे। संसार के अनित्य पदार्थों के लिये नित्यानन्द से वंचित हो जाने को वे विवेक की निशानी नही समझते थे।

२, **अशरण भावना :** 'कराल काल के पंजे से जीव की कोई रक्षा नही कर सकता' इस सत्य का उनको व्यक्तिगत रूप से अनुभव था। उनके पिता और उनकी प्यारी माता का उनकी आखो के समक्ष निधन हो गया था। कोई उनको नहीं बचा सका था। उनकी उपस्थिति में उनके माता-पिता के मृतक शरीर दाह के लिये श्मशान भूमि में पहुंचा दिये गये थे और वे संभ्रान्त पथिक की तरह देखते और ममता के कारण रोते रह गये थे। उनका जाना असामयिक था किन्तु काल समय की प्रतीक्षा नही करता। वह मरणशील प्राणी का समय नहीं देखता, वह तो अपना समय देखता है। जब उनको कोई शरण नहीं दे सका, उनके जीवन को रक्षा नही कर सका, तो उसको कौन शरण देने वाला है, कौन उनकी रक्षा करने वाला है, इस प्रकार की चिन्तन धारा में डूबे रहते थे।

३. **संसार भावना :** अपनी पैदल विहार यात्राओं में उनको अनेक धनिक और निर्धन परिवारों के सम्पर्क में आने का अवसर मिलता था। उन्होंने किसी के मन में भी शान्ति नहीं पाई। सब दुःखी थे, अपनी-अपनी स्वार्थपूर्ण समस्याओं के कारण। सब पापकर्म बांध रहे थे, अज्ञानता के कारण। परिणामस्वरूप अपने जन्म-मरण के चक्र की नींव पक्की कर रहे थे। यहां कौन किसकी चिन्ता करे। जो इस भव

में अपना है वही आगामी भव में पराया हो जाता है, अतएव जीव का कोई अपना-पराया नहीं है,' ऐसी चिन्तन धारा में मग्न रहते हुए वे संसार का चिन्तन किया करते थे।

४. एकत्व भावना : मुनि चान्दमल जी महाराज को यह अच्छी प्रकार तत्त्वज्ञान हो गया था कि जीव अकेला ही संसार में आता है और अकेला ही यहां से प्रस्थान कर जाता है। वह अपने अर्जित कर्मों का फल भी अकेले ही भोगता है। इसके लिये शास्त्रों का ज्ञान और गुरु का ज्ञान तो आधार था ही किन्तु उसके अतिरिक्त उन्हें स्वानुभूति भी थी। वे दैनिक जीवन में देखा करते थे कि न तो संसार में कोई किसी के दुःख बांट ही सकता है और न ही मृत्यु के समय कोई किसी के साथ ही जाता है। इस प्रकार के विचार के चिन्तन की भी उन्होंने कभी उपेक्षा नहीं की।

५. अन्यत्व भावना : 'जो ससार के पदार्थ हैं, वह मैं नही हूं। पदार्थ अपने स्वरूप में जड़ है और मैं अपने स्वरूप में चेतन हूं। जो जड है, वह चेतन कैसे हो सकता है, और जो चेतन है, वह जड कैसे हो सकता है? दोनों का स्वभाव सर्वथा भिन्न है। फिर जो संसार के पदार्थ है, वह मैं कैसे हो सकता हूं, मैं तो सर्वथा उनसे भिन्न अपनी स्व-प्रकृति में शुद्ध, बुद्ध और निरंजन हूं'। इस प्रकार के चिन्तन की आस्था से वे सदा अनुप्राणित थे।

६. अशुचि भावना : 'मेरा यह शरीर मल, मूत्र, रक्त, मज्जा और रोग आदि अनेक अमेध्य और अपवित्र तत्वों से परिपूर्ण है। इसके मोह में पड़कर मैं इसके अन्दर रहने वाले शुद्ध-बुद्ध-तत्व-जीव की क्यों उपेक्षा करूं। शरीर की सेवा कर्मबन्ध का कारण है और नारकीय वेदनाओं में धकेलने वाली है और जीव के जीवत्व का, सफलत्व का और महत्व का चिन्तन, कल्याणकारी है, जन्म-मरण के फन्दे को काटने वाला है। इस लिये मुझे जीव की ही चिन्ता करनी चाहिये, शरीर की नहीं।'

इस प्रकार के चिन्तन से मुनि चान्दमल जी महाराज ने अपने वैराग्य की नींव को सुदृढ़ बनाया था।

७. आस्रव भावना : मानव जीवन के सभी दुःखों का, क्लेशों का और गंभीर कष्टकारिणी समस्याओं का कारण 'कर्मबन्ध' है।

राग, द्वेष, अज्ञान, मोह, असत्य, असन्तोष, प्रमाद, क्रोध, मान, माया, और लोभ किस प्रकार जीव को कलुषित कर देते है—इत्यादि आस्रव की भावना पर स्वामीजी गंभीर चिन्तन किया करते थे। केवल चिन्तन मात्र ही नही उनके क्षय की ओर भी अग्रसर हो रहे थे।

८. **संवर भावना** : जीवन में दुःखों का कारण आस्रव है। आस्रव के कारण ही नव-नव कर्म जीव में प्रवेश प्राप्त करते हैं। उसके निरोध करने में, और कर्मबन्ध के कारणों के निरोध में स्वामी जी ने अपना सारा जीवन लगा दिया। जीवन में संवर भावना को क्रियान्वित करना उनके गम्भीर चिन्तन का ही परिणाम था।

९. **निर्जरा भावना** . पूर्वभव में और इस भव में अज्ञान दशा में संचित कर्मों की निर्जरा पर वे चिन्तनशील ही नही थे परन्तु साधु धर्म का बडी कर्मठता से पालन करके वे उन कर्मों की निर्जरा में भी प्रयत्नशील थे। कर्मों की निर्जरा के लिये कठिनतम से कठिनतम कोई भी जैन मुनि की ऐसी आचार क्रिया नहीं थी, जिसे उन्होंने अपने जीवन में न उतारा हो।

१०. **लोक भावना** : लोक के पुरुषाकार रूप का तो वे बड़े एकाग्रमन से चिन्तन किया करते थे और कई बार उसके रूप पर आश्चर्य भी प्रकट करते थे। लोक का भी पुरुषाकार रूप कैसे बन गया, यह एक रहस्यात्मक बात है।

११. **बोधिदुर्लभ भावना** : अधोगामी जीव को ऊर्ध्वगामी बनाने वाले, सांसारिक सारता और असारता को विवेक प्रदान करने वाले और मोक्ष पथ पर अग्रसर करने वाले बोधि ज्ञान के महत्व से वे भली-भान्ति परिचित थे। 'वह ज्ञान कितना दुर्लभ है' इस पर वे निरन्तर चिन्तन किया करते थे। बोधिदुर्लभ ज्ञान इस कारण दुर्लभ माना जाता है कि उसकी उपलब्धि सरल नही है। बड़ी तपश्चर्या के पश्चात् ही उसे प्राप्त किया जा सकता है।

१२. **धर्म भावना** : धर्म के स्वरूप की रूपरेखा तो दीक्षा के समय ही उनके गुरुवर्य स्वामीजी श्री नथमल जी महाराज ने उनके सामने खीच दी थी। तत्पश्चात् शास्त्रों के अध्ययन के परिणामस्वरूप और जीवन में धर्म के आचरण के कारण उन्होंने स्वानुभूति से धर्म के महत्व को समझा था। वे अपने वार्तालाप में और प्रवचनों में

सदा धर्म की महिमा का बखान किया करते थे, जो उनके निरन्तर चिन्तन का ही परिणाम था।

तपोनिष्ठ उग्र तपस्वी

मुमुक्षु साधक के लिये मोक्ष के प्रशस्त पथ पर अग्रसर होने के लिये तपश्चर्या को छोड़कर अन्य कोई उपाय नहीं है। ऊपर साधना के मूल मन्त्रों के रूप में जिन संक्षिप्त साधनों का उल्लेख हमने किया है वे सब तपश्चर्या के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं या फिर यों कहो कि वे मोक्षरूपी दुर्ग पर विजय प्राप्त करने के लिये जीव के शस्त्रागार हैं या फिर कषायरूपी शत्रुओं को परास्त करने के लिये उन पर कठोर प्रहार हैं। मोक्ष का अधिकारी वही आत्मा है जो तपश्चर्या की अग्नि में तपकर सुवर्ण के समान निर्मल बन जाता है, शुद्ध बन जाता है और पवित्र बन जाता है। शास्त्र का कथन है।

जह खलु मइलं वत्थं,
सुज्झइ उदगाइएहिं दव्वेहिं।
एवं भावुवहाणेण,
सुज्झए कम्ममट्ठविहं॥

आचारांग निर्युक्ति, २८२

अर्थात्—जिस प्रकार जल आदि शोधक द्रव्यों से मलिन वस्त्र भी शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक तपसाधना द्वारा आत्मा ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्ममल से मुक्त हो जाता है।

इन्हीं आठ प्रकार के कर्मों की मल को धोने के लिये मुनि चान्दमल जी महाराज उग्र तपश्चर्या में निरत थे। अनेक परीषहों को सहन करके वे पांच महाव्रतों को तथा उन को शक्ति प्रदान करने वाले अनेक धार्मिक मुनि-नियमों और उपनियमों का पालन तो बड़ी कर्मठता से, निष्ठा से और श्रद्धा से करते ही थे किन्तु उनके अतिरिक्त वे अपनी शक्ति से बाहर आकर भी तपश्चर्या की आराधना करते थे।

उग्रविहारी

वे बड़े उग्रविहारी थे। अस्वस्थावस्था में शारीरिक शैथिल्य के सद्भाव में भी वे विहार करने में तनिक भी आलस्य और संकोच नहीं

करते थे। वसन्त ऋतु के विहार के समय अपनी रुग्णावस्था को भूलकर वृक्षों से पवन वेग द्वारा पीले, जीर्ण और परिपक्वावस्था में पहुंचे हुए पेड़ों के पत्तों को झड़ते हुए देखकर यही सोचा करते थे :

"जैसे ये जीर्ण पत्ते वृक्ष से झड़कर सदा के लिये वृक्ष के सम्बन्ध से मुक्त हो जायेंगे, ठीक इसी प्रकार अपनी तपश्चर्या के द्वारा मुझे भी अपने अर्जित कर्मों को इस प्रकार झाड़ देना है कि ये पुनः मेरे जीव से लिप्त न हो सकें। कितना सत्य कहा है सन्त कबीर ने :

पात झरंता यों कहै सुन तरुवर बनराय।
अबके बिछुरे ना मिलें दूर परेंगे जाय॥

अर्थात्—पत्ते जब वृक्ष से अलग होकर झड़ने लगे तो उन्होंने वृक्ष से कहा कि 'हे तरुवर! हमारा यह सम्बन्ध तुमसे अन्तिम था, अब हम भविष्य में कभी भी तुमसे नही मिल सकेंगे'। मैं भी अपने कर्मों का सम्बन्ध अपने जीव से सदा के लिये विच्छिन्न कर दूगा। कुछ वृक्षों पर, पौधों पर और लताओं पर नई-नई कोंपले, कलियां और कुसुमों का भी आविर्भाव होना आरंभ हो गया है। मेरे भी तो कषायरूपी सड़े गले पत्ते झड़ चुके हैं और सद्भावना रूपी कलियों का विकास हो रहा है। फूल खिल रहे हैं और अपनी सुगन्धि आकाश मण्डल में बिखेर रहे हैं। कितनी प्रसन्नता से और उल्लास से मुस्करा रहे हैं ये फूल। मेरा मन भी तो सांसारिक ममता के त्याग से उल्लसित है और उससे सद्ज्ञान की सुगन्धि प्रस्फुटित हो रही है। परन्तु, हां, मेरे और वसन्त ऋतु के उल्लास में और विकास में तो पृथ्वी और आकाश का अन्तर है। इन फूलों का खिलना, इनकी मुस्कराहट और इनकी सुगन्धि तो नश्वर है, क्षणिक है और चिरस्थायी नही है किन्तु मेरा उल्लास तो अमर रहने वाला है, मेरी मुस्कराहट कभी मुर्झाने वाली नही है और मेरा सौरभ तो अनन्त-काल दिग्दिगन्त को सुरभित करता रहेगा। इन पौधों के पत्ते तो पुनः आविर्भूत हो गये हैं और ऐसे ही सदा झड़ते रहेंगे और नये आते रहेंगे किन्तु मेरे कर्म रूपी पत्ते एक बार झड़कर पुनः जीवरूपी पौधे को लगने वाले नहीं हैं। मेरा आनन्द, मेरा विकास और मेरा सौरभ अमर है। इन पेड़, पौधों और लताओं के पत्र कर्म-बन्धनों से लिप्त संसार के जीवों के समान बार बार जन्म-मरण के रूप में संसार में आते जाते रहेंगे किन्तु जिस कैवल्य पथ पर मैं चल

रहा हूं, उस पथ का राही कभी लौट कर वापिस नहीं आता। वह तो अपनी वास्तविक स्वस्थिति में या स्व-स्वरूप में पहुंच जाता है।

गीता के शब्दों में :

"यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।"

अर्थात्—जहां से लौट कर वापिस नहीं आना है, मैं तो उस धाम का राही हूं।

बढ़ते हुए नग्न-चरण एवं अध्यात्म-चिन्तन

विहार—यात्रा में जैसे-जैसे मुनि चान्दमल जी महाराज के नग्न चरण पगडंडी पर आगे बढ़ते जाते थे वैसे-वैसे उनकी आध्यात्मिक चिन्तन की धारा का प्रवाह भी आगे बढता रहता था। पगडंडी टेढी मेढी थी किन्तु उनका चिन्तन सरल था। पगडंडी कण्टकाकीर्ण थी किन्तु उनका अन्तःकरण निष्कंटक था; पगडंडी पर बालुका के कण बिखरे थे किन्तु उनका मन विकारहीनता के कारण परिमार्जित था; पगडंडी कच्ची थी किन्तु उनका श्रद्धान पक्का था; पगडंडी कहीं-कहीं रुक भी जाती थी, खेतों में खो भी जाती थी किन्तु वे गतिशील थे और उनका प्रशस्त मार्ग खो जाने वाला नहीं था; पगडंडी को किसान हल चला कर कई बार लुप्त भी कर देते थे किन्तु उनका मार्ग अनादिकाल से न अब तक कभी लुप्त हुआ है और न ही अनन्तकाल तक कभी लुप्त हो सकेगा।

चिन्तन धारा में डूबकर उनको अपने शरीर की, अपने कष्ट की और अपनी पीड़ा की कोई सुधबुध नहीं रहती थी, इसका कारण यही था कि उनको अपने शरीर पर कोई भी आसक्ति नहीं थी।

वसन्त ऋतु के पश्चात् आनेवाली ग्रीष्म ऋतु भी उनके विहार के विचार को परिवर्तित नहीं कर सकती थी। सहचर सन्तों के रुग्णावस्था में विहार के परामर्श की उपेक्षा करके वे विहार कर दिया करते थे। यह कहकर उनके परामर्श का परिहार कर दिया करते थे कि 'परीषह सहने से साधु शीघ्रातिशीघ्र कर्मों का क्षय कर लेता है'। नीचे पृथ्वी तवे के समान तप रही होती थी, ऊपर आकाश से आग बरसती थी और चारों ओर धूल भरी आन्धी और लू के अत्यन्त तप्त झोंके सृष्टि को भस्म करने पर तुले होते थे किन्तु चान्दमल जी महाराज इन सबकी किंचित् भी चिन्ता न करते हुए विहार में नंगे पैर, पसीने से

लथपथ, और राजस्थान की तप्त बालुकणों से धूसरित अवस्था में चलते हुए दिखाई देते थे। शरीर के कष्ट की वेदना की और असह्य असुविधा की चिन्ता न करते हुए वे इस चिन्तन में लीन हो जाते थे :

"गर्मी शरीर को तपा रही है, लू शरीर को जला रही है, धूल आंखों में वेदना उत्पन्न कर रही है, कांटे पैरों में छेद कर रहे हैं, तपे हुए कंकर पैरों में चुभ रहे हैं, और भूख तथा प्यास तन को व्याकुल कर रही है, वे सारे कष्ट तो शरीर की अनुभूति हैं, चेतन के सम्पर्क से, परन्तु जो मैं हूं वह तो शरीर नहीं है, जो शरीर है, वह मैं नही हूं। मैं तो शरीर से सर्वथा भिन्न सत्, चित्, आनन्दस्वरूप, शुद्ध-बुद्ध और निरंजन तत्व हूं। फिर मुझमें जड़ शरीर की चिन्ता क्यों, जड़तत्व में आसक्ति क्यों, ममता क्यों और मोह क्यों ? यह तो नश्वर है और मैं अनश्वर हूं। मैं चेतन हूं और यह जड़ है। यदि अज्ञानवश चेतन और जड़ के साधारणीकरण के चक्र में पड़ा रहा, जैसे कि अनादिकाल से पड़ा हुआ हूं, तो मेरा जन्म-मरण का बन्धन कैसे कटेगा? शास्त्र प्रतिपादित 'अन्यत्व की भावना' को मैंने भलीभांति समझ रखा है, फिर मैं शरीर का मोह क्यों करूं ? यह तपता है तो तपने दो, जलता है तो जलने दो, नष्ट होता है तो होने दो। मैं इसकी सर्वथा चिन्ता नहीं करूंगा। मैं तो अपनी चिन्ता करूंगा, अपने वास्तविक स्वरूप की चिन्ता करूंगा, अपने कर्मक्षय की चिन्ता करूंगा, अपने उद्धार की चिन्ता करूंगा और अपने स्वरूप में पहुंचने की चिन्ता करूंगा।"

वर्षा ऋतु और शरद् ऋतु में जैन सन्त विहार नही करते। वर्षा ऋतु में वर्षा के कारण मार्ग यत्र-तत्र अवरुद्ध हो जाते है, पृथ्वी वनस्पति से ढक जाती है और अनेक प्रकार वनस्पतिकायिक जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। यद्यपि साधु ईर्या समिति से कदम आगे बढ़ाते हैं तो भी पृथ्वी पर फैली वनस्पति में, घास में, लताओं में, छोटे पौधों में छिपे जीव जन्तुओं को दृष्टि कई बार देख नहीं पाती, इस कारण उनका घात हो सकता है। इस संभावना से वे विहार नहीं करते। किसी नगर या गांव में चार मास तक रुक जाते हैं। वर्षावास के इन चार महीनों में एक स्थान पर रुककर वनस्पतिकायिक जीवों के घात के पाप से तो बच जाते हैं परन्तु परीषहों के स्वयं के शरीर पर होने वाले आक्रमणों से अपनी रक्षा करने में समर्थ नहीं

होते । संभवतः विक्रम का १९९७वां वर्ष था, स्वामीजी चान्दमल जी महाराज का चातुर्मास ब्यावर का निश्चित हुआ था । शहर में प्रवेश करने से पूर्व कुछ दिन के लिये नगर के बाहर एक ऊजड़ से मकान में कुछ दिनों के लिये उन्हें ठहरना पड़ा था । संयोगवश मैं भी उनके साथ ही था । कहते हैं कि विपत्तियां अकेली कभी नहीं आतीं किन्तु वे तो ससैन्य और सशस्त्र आती हैं । वास्तव में उस ऊजड़ स्थान में मच्छरों, खटमलों और मकोड़ा की सेना सशस्त्र प्रकट हुई और आक्रमण कर दिया हम सब पर । हमारे साथ मिथिला के एक पण्डितजी भी थे, उन पर जैन संस्कृति का कोई प्रभाव नहीं था । बड़े शास्त्रार्थी पण्डित थे और समय आने पर शस्त्रार्थी भी बन जाते थे । वे तो भिड़ गये मच्छरों से और खटमलों से । छोटे-छोटे जीव-जन्तु भला इतने बड़े विद्वान् को अपने डंकों से घायल कर दें, यह अपमान भला उन्हें कैसे सह्य हो सकता था । बस लगे दोनों हाथों से ताड़ियां बजा कर मच्छर मारने और साथ-साथ हाथ की अंगुली से और पैर के अंगूठे से खटमल मसलने । दो शत्रुओं का सामना करना कोई सरल काम न था, परन्तु वीरात्मा थे, डट गये रात्रि को ही युद्ध के मैदान में । इस बीच में अवसर पाकर मकौड़े उनको डंक मार कर मोटर साईकल की तरह भाग निकलते थे । आखिर तीन तरफ से शत्रुओं का आक्रमण था, कायर का काम नहीं था इस युद्ध में अडिग रहना । सारी रात युद्ध चलता रहा आखिर प्रातः काल शत्रु को पीछे हटना पड़ा । कलिंग की सेना के सिपाहियों के खून के धब्बे जगह-जगह दिखाई दे रहे थे । यह था सांसारिक युद्ध । धर्म युद्ध नहीं । धर्म युद्ध में आक्रान्त, शस्त्रधारी आक्रमणकारियों को लोहे के या चर्म के शस्त्रों से पराजित नहीं करता किन्तु प्रेम के शस्त्रों से पराजित करता है । आक्रमण करने वाले शस्त्र प्रहारों से तरह-तरह के नारकीय कर्म बान्धते हैं किन्तु आक्रान्त, आक्रमण करने वालों के शस्त्रों के प्रहारों को बड़ी सहनशीलता से सहन करके अपने कर्मों का क्षय करते हैं । वे केवल मात्र प्रहारों की चोटों को सहन ही नहीं करते किन्तु चोट करने वाले पर करुणा की किरणें बरसाते हैं । स्वयं के दुख से दुःखी न होकर शत्रु के भावी कर्मबन्ध-जन्य दुःख से व्याकुल हो जाते हैं । भगवान् महावीर ने भी तो अज्ञानी

जीवों के द्वारा दी गई असह्य यातनाओं को सहन किया था, बदले में उन पर क्रोध नहीं किन्तु करुणा की थी, दया की थी और यातना देने वाले के पाप-कर्म-बन्ध के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाले नारकीय जीवन पर खिन्नता प्रकट की थी। मुनि चान्दमल जी के और उनके सहचर अन्य जैन सन्तों के समक्ष भगवान महावीर का आदर्श जीवन था। वे मच्छर, खटमलादि के कष्टप्रद आक्रमणों से तनिक भी विचलित नहीं हुये। यद्यपि ऐसे कष्टपूर्ण समय में सोना सभव नहीं था तो भी मुनियों को इसकी कोई चिन्ता नहीं थी। वे सारी रात ध्यान-मग्न होकर व्यतीत कर देते थे। मैं तो मच्छरदानी के प्रयोग से अपना बचाव कर लेता था, परन्तु पण्डितजी मैदान छोड़ कर भाग निकले। मुनि चान्दमल जी महाराज ने अपने अन्य जैन मुनियो के साथ कई रात्रियां वहां इसी प्रकार घोर परीषहों को सहन करके बिता दी थीं। धन्य है ऐसा धर्म जो दूसरे प्राणियों को हानि न पहुंचाकर स्वयं को हानि पहुचाना अधिक श्रेयस्कर समझता है और धन्य है वे जैन मुनिराज जो स्वयं यातनाएं सहनकर दूसरे जीवों का कल्याण करते हैं। 'मुनि चान्दमल जी कैसे उग्रतपोनिष्ठ साधक थे' इस सत्य की झलक इस घटना से स्पष्ट परिलक्षित होती है।

प्रत्येक ऋतु में आने वाले परीषहो को जैन मुनि कर्मों के क्षय का सुअवसर मानता है। वर्षा ऋतु मे जहां व्योम में जलभाराक्रान्त काले बादलों की घटाओं का जाल था, इधर पृथ्वी पर चान्दमल जी मुनि के कर्मक्षय का काल था। भाग्यहीन प्राणी की वक्र मस्तक रेखाओं के समान धरा वृश्चिक, सर्पादि जन्तुओं का आधान थी, समस्त प्राणियों के प्रति कारुणिक मुनि चान्दमल जी की प्रवृत्ति जीवो की हत्या के प्रति सावधान थी। धरित्री नवजलधारा पाकर जवान थी, मुनिजी की भावना चातुर्मास में अधिकाधिक ज्ञान ध्यान का सुअवसर पाकर धृतिमान् थी। बादल पृथ्वी के पास आकर जल की वर्षा कर रहे थे और स्वामी जी श्रावकों के मध्य विराजमान होकर ज्ञान की वर्षा कर रहे थे। बादलों में कभी-कभी बिजली की ज्योति का क्षणिक भान था, स्वामी जी के प्रवचन में ज्ञान की ज्योति का स्थायी स्थान था। बिजली की शिकार अनेक प्राणियों की जान थी किन्तु स्वामीजी की प्रवचन विद्युत ज्योति अनेक प्राणियों के कर्मक्षय

की खान थी। अधिक वर्षा के कारण नदी, नाले और तालाब सब अपने तटों को तोड़ कर मर्यादाहीन हो गये थे किन्तु स्वामीजी ने वर्षाकालिक कर्कश परीषहों के सद्भाव में भी अपनी धार्मिक क्रियाओं की मर्यादा भंग नहीं की थी। कच्चे घर, कच्चे संयमियों के समान धराशायी हो रहे थे किन्तु पक्के मकान स्वामीजी चान्दमलजी जैसे दृढ़ संकल्पी मुनि के समान यथावत् दृढ़ता से वर्षा का सामना कर रहे थे। शुक्ल पक्ष का चांद बादलों की काली घटाओं के कारण कई दिन से अपनी चांदनी पृथ्वी पर नहीं छिटका पाया था परन्तु पृथ्वी का यह मुनि चान्द तो प्रतिदिन अपनी शान्तिदायक किरणों से श्रावकों के मनों को प्रकाशित कर रहा था। सूर्य ने अपने प्रकाश का उत्तरदायित्व संभवतः इसी चान्द को सौंप रखा था। वर्षा होते ही दलदल में दुरित दर्दुर बाहर निकल कर ऐसे प्रसन्नता से टर्राने लगे जैसे कर्मों के दल-दल से किंचित् मुक्त हुआ जीव आध्यात्मिकता के उल्लास भरे गाने गाने लगता है। सर्प अपना सिर और बिच्छू अपनी पूछ ऊंची करके ऐसे चलने लगे जैसे धर्महीन और आत्मतत्व से अनभिज्ञ जीव अहंकार से अभिभूत होकर दूसरे जीवों को डसने के लिये उद्यत होकर चलता है। अहंकारी के पतन के समान ही वर्षा ऋतु का पतन हुआ, अन्त आ गया।

अब आरम्भ हो गई शरद् ऋतु। शरद् ऋतु के आने से सांसारिक यात्रियों के लिये तो मार्ग खुल गये। नदियों का, उप नदियों का और नालों का पानी उतर गया। इतना अल्प रह गया कि उसमें यात्री सरलता से चलकर पार कर सकते थे। परन्तु जैन मुनियों के लिये तो उतने अल्प जल को भी बीच में चलकर पार करना शास्त्र द्वारा निषिद्ध था, इसलिये उन्हें पूरी शरद् ऋतु में भी एक ही स्थान पर रहना आवश्यक था। पानी निश्चित रूप से मन्द पड़ता जा रहा था किन्तु वर्षाकाल में उत्पन्न असंख्य जीव जन्तुओं का प्रकोप शरद् ऋतु के आने से मन्द नहीं पड़ा करता। जैन मुनियों को तो शरद् ऋतु में भी वर्षा ऋतु में जात आक्रमणकारी विषैले जीवों द्वारा दिये गये परीषहों को सहना ही पड़ता है।

हेमन्त ऋतु का आगमन भी जैन मुनि के लिये सुखसह्य नहीं होता। हेमन्त ऋतु में पर्वतों पर जमने वाली वर्षा के पश्चात् जो देश

में शीत की लहर चलती है उससे सहस्रों मानव, पशु और पक्षी काल का ग्रास बनते हैं। पर्वतीय प्रान्तों में विहार करने वाले जैन मुनियों का कष्ट तो अनुमानगम्य ही है किन्तु जो दूसरे प्रान्तों में भी विचरते हैं उनको भी हेमन्त ऋतु में परीषहों का कम सामना नहीं करना पड़ता। ठण्डे-ठण्डे बालुका कणों से आकीर्ण राजस्थान की ठंडी पगडंडियों पर, अत्यन्त शीतल, काटने वाले, चुभने वाले, देह को चीरकर बीच में से निकल जाने वाले वायु के झोंकों में से होकर चलने वाले, अल्प-वस्त्र परिग्रह वाले, अत्यन्त कोमल पैरों में तीखे कंकरों के चुभने के कारण खून से लथपथ चरणों वाले, शीत लहर के कारण अपने कंपायमान अतिसुकुमार शरीर का भार ढोने वाले, सहचर मुनियों द्वारा आराम के निमित्त विश्राम के लिये दिये गये परामर्श पर मौन धारण करने वाले, विहार में मिलने वाले अत्यन्त श्रद्धावान श्रावकों द्वारा समीपस्थ जलपान-शाला के बरामदे में घड़ी दो घड़ी रुकने के मनुहार का परिहार करने वाले, रुग्णावस्था में भी वैद्यों द्वारा, डाक्टरों द्वारा दी गई विश्राम निमित्त अनुमति की उपेक्षा करके लम्बे विहार पर संचार करने वाले, पैर में मोच आने पर, पैरों द्वारा चलने का निषेध पाकर भी लंगड़ा-लंगड़ा कर चलने वाले उग्रतपस्वी मुनि चान्दमलजी महाराज को मैंने (उनकी जीवनी के लेखक ने) स्वयं अपनी आखों से देखा है।

'आप दूसरे प्राणियो को कष्ट पहुंचाने में तो, पाप समझते है, अपनी देह को इस प्रकार तड़पाने से क्या पाप कर्म का बन्धन नही होता?' मैंने उनसे पूछा।

मेरे इस प्रश्न करने पर मुनि चान्दमलजी महाराज ने हेमन्त ऋतु के एक विहार मे ठंडी पगडंडी पर अपने सुकुमार चरणो के संचार को भंग करते हुए अर्थात् खड़े रह कर कहा :

"दूसरे प्राणियों को चोट पहुंचाने से अपने पाप कर्मों का बन्ध होता है किन्तु दूसरों की रक्षा निमित्त स्वयं कष्ट सहने से अपने कर्मों का क्षय होता है। तुम कहोगे कि इस समय तो मेरे सामने दूसरे जीव रक्षा की अपेक्षा नही कर रहे फिर मैं क्यों व्यर्थ में शीत की यातना सहन कर रहा हूं। इसके लिये मेरा यही कहना है कि यह देह जो मुझे मिली हुई है, वह कर्म बन्धका ही तो परिणाम है। देह की कारागार

में रहने का जीव का वास्तविक स्वरूप नहीं है। वह तो स्व-स्थिति में शुद्ध, बुद्ध और अमर आत्मा है, ऋतु-जन्य तथा और अनेक परीषहों को सहने के लिये मैं अपने शरीर को इसलिये प्रेरित कर रहा हूं जिससे मेरे वे सारे कर्म क्षीण हो जाएं जिनके कारण मुझे यह शरीर मिला हुआ है। वास्तव में यह शरीर जीव के लिये बन्धन है, इस बन्धन से मुक्ति या छुटकारा तभी मिल सकता है यदि परीषहों को शान्तिपूर्वक और धैर्यपूर्वक सहन कर लिया जाये। शरीर के सुख को सुख समझना और शरीर के दुःख को दुःख समझना, यह अज्ञान का आवरण है जो जीव पर छाकर उसे सम्भ्रान्त बना देता है। मैंने कष्ट सहन करके उस आवरण को हटाना है, भ्रान्ति से दूर रहना है। मेरा जीव इसी प्रकार की भ्रान्ति में पड़ा हुआ अनेक भवों से जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा हुआ दुःख भोग रहा है। मैं सदा के लिये उस दुःख का अन्त करना चाहता हूं। दुःख मेरा स्वभाव नहीं है, मैं परम आनन्दमय आत्मतत्व हूं।''

शिशिर ऋतु में सूर्य के तापमान की वृद्धि के कारण पर्वतों पर हिम पिघलने लगती है और जल के रूप में प्रवहमान होने लगती है। सन्त कबीर ने पिघलती हुई बर्फ को देखकर कहा था 'जो तू था सोई भया' हे जल ! तू बर्फ तो ऋतुकालीन प्रभाव के कारण बन गया था, वास्तव में तो तू तरल पदार्थ है, पिघल कर तू फिर अपने वास्तविक रूप में आ गया है'। उक्ति तो सामान्य है किन्तु अर्थ गंभीर है। जैसे जल ऋतुकालीन प्रभाव के कारण कुछ समय के लिये बर्फ के रूप में जम जाता है, ठीक इसी प्रकार शरीर का रक्त शीतपरिणाम के द्वारा जहां का तहां जम जाता है, परन्तु जब उसे विहारजन्य-तपश्चर्या का ताप लगता है तो वह पुनः अपनी वास्तविक स्थिति स्व-स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। अन्तर केवल इतना है कि जल की स्व-स्थिति अस्थायी है और जीव की स्व-स्थिति स्थायी है, सूर्य के तापमान की वृद्धि से शीतलहर अवश्य मन्द पड़ जाती है और मौसम सुहावना हो जाता है परन्तु जैन मुनियों की तपश्चर्या की लहर मन्द नहीं पड़ती और न ही सुहावनी मौसम का उन पर प्रभाव ही पड़ता है। संसारी लोग सुहावनी मौसम का शारीरिक आनन्द द्वारा लाभ उठाते हैं किन्तु जैन सन्त इस ऋतु में लम्बे लम्बे विहार करके सुहावनी मौसम का

सदुपयोग करते हैं। लम्बे विहार सुखमय नहीं किन्तु परीषहमय होते हैं। एक दिन में दो-दो विहार, तीन-तीन विहार, शरीर बुरी तरह से थक-कर चूर-चूर हो जाता है, टूट-टूट जाता है, गिर-गिर पड़ता है, परन्तु उनको इसकी कोई चिन्ता नहीं। वे तो अपनी आत्मकल्याण की भावना से चलते जाते हैं, चलते जाते हैं।

'चरैवेति, चरैवेति।'

मुनि श्री चान्दमलजी महाराज तो उग्रविहारी होने के कारण लम्बे से लम्बे विहारों को पसन्द करते थे।

अडिग साधक

श्रमण संस्कृति में मुक्ति की साधना के पथ पर अग्रसर होने के लिये साधु के निमित्त जिस आचार संहिता का विधान है, वह ससार की आचार पद्धतियों की अपेक्षा कही अधिक कठोरतम, दुष्करतम और कठिनतम है। नंगे पैर विहार, रूखा सूखा आहार। अनेक बार, आहार प्राप्ति के अभाव में निराहार-विहार, अनियत संचार, केशलुंचन का आचार, भूमि शय्या का सभार, फूटी कौड़ी का भी पास में रखने का परिहार, इन्द्रियों पर विजय प्राप्ति के निमित्त दिवानिश उनके विषयों पर ज्ञान का सतत् प्रहार, भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी, मच्छर, बिच्छू, सांप के डसने के समय मात्र धैर्य का आधार, प्रत्येक वस्तु का याचना के द्वारा ही स्वीकार, कभी-कभी गोचरी में कुछ न पाकर विषाद का परिहार, अज्ञानी जीवों से अपमानित होकर भी प्रतिकार का बहिष्कार और उनके प्रति करुणा का सचार, वर्षावास को छोड़कर ग्राम ग्राम में, नगर-नगर में सात दिन अथवा एक मास से अधिक न ठहरने का आचार, ऐसी कठोरतम धार्मिक चर्याएं हैं जिनका पालन जैन साधु को करना होता है। मुनि चान्दमल जी महाराज जैन साधु की इन सब चर्याओं में अडिग रहे, अविचलित रहे और दृढ़ रहे। वे वीतरागता की, त्याग की और तपश्चर्या की जीवित प्रतिमा थे। उनकी ऊपर वर्णित उग्रसाधना का उद्देश्य था 'आत्मशुद्धि'। 'आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और असीम आनन्द और विराट् चेतना का भण्डार होकर भी स्वार्जित कर्मों की उपाधि के कारण असीम दुःखों का भाजन बनता है और जब तक इस कर्म

की उपाधियाँ नष्ट नहीं किया जाता तब तक उसके शुद्ध गुण प्रकाश में नहीं आ सकते', इस सत्य से वे पूर्णरूपेण अनुप्राणित थे। कर्मों का नाश, बिना उग्र तपश्चर्या के संभव नहीं है, इस कारण वे जब तक जीवित रहे, उग्र तपश्चर्या में निरत रहे। एक क्षण भी वे जीवन को व्यर्थ नहीं खोते थे। जब और साधुचर्या से तनिक भी अवकाश पाते थे, तो माला फेरने लगते थे। वे स्वयं कहा करते थे, 'मेरे जीवन की गति टूट सकती है किन्तु माला हाथ से नहीं छूट सकती'। मुनि चान्दमलजी महाराज वास्तव में एक महान् जैन मुनि थे, उग्र जैन तपस्वी थे, अनिर्वचनीय परीषहों को शान्ति से सहन करने वाले साधक थे, एक विराट् चेतना के आराधक थे, दुर्दमनीय दुरन्त दुष्कर्म दुर्ग के बाधक थे और निःश्रेयस-सन्मार्गप्रवृत्त साधकों के लिये मादक थे। मैंने उनको बड़े ही समीप से देखा था, परखा था, पढ़ा था, जाना था, पहचाना था, उनके अन्तःकरण को विविध आगम-विहित विधि विधानों से सम्बन्धित विवादास्पद विषयों पर संलापों से छाना था और उनके शास्त्र संमत, तर्क संगत, सारगर्भित और युक्ति निरुक्ति परिमार्जित समाधान पाकर उन्हें मुनियों में, मनीषियों में, माननीय महर्षियों में और सम्मान्य साधकों में मूर्धन्य माना था। उनकी वाणी में सौजन्य था, मन में नैर्मल्य था और कर्म में कमनीयता थी। उनकी कथनी और करनी में एकता थी। वे अधिक मौनव्रत के उपासक थे किन्तु जब बोलते थे तो वाणी में फूल झड़ते थे। उनके शब्दों में आध्यात्मिकता की सौरभ थी, उनके प्रवचनों में ज्ञान की गरिमा थी, उनके व्यवहार में चरित्र की चारुता थी, उनके आहार में सात्विकता साकार थी और उनके मांगलिक आशीर्वाद में, सम्मति प्रदान में करुणा की भावना की भरमार थी। उनका व्यक्तित्व महनीय था, अनिर्वचनीय था, सराहनीय था, अनुगमनीय था, अनुभूति से आकलनीय था और आचरणीय था। संक्षेप में वे अपने समान स्वयं थे।

कलाकार के रूप में

सम्यग्दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र चर्यारूपी मालती के तो वे चतुर चंचरीक थे ही किन्तु उनके साथ-साथ वे उच्चकोटि के कलाकारों में से भी एक थे। दीक्षा के पश्चात् उनको उनके गुरु

स्वामी नथमलजी महाराज ने शास्त्राभ्यास के साथ अक्षर जमाने की कला, बारीक से बारीक अक्षर लिखने की रीति और सुन्दर अक्षरों के निर्माण की विद्या का अभ्यास कराना आरम्भ करा दिया था। सुकुमार शरीर, सुकुमार भावना, सुकुमार व्यवहार, सुकुमार आचार और सुकुमार विचार—एक कलाकार के अपेक्षित गुण हैं, जिनके मुनि चान्दमल जी महाराज निधि थे। कलाकार की प्रवृत्ति जिस ओर केन्द्रित हो जाती है उसी विषय पर उत्तरोत्तर विकसित होती रहती है। मुनि जी का एकाग्रमन अक्षरों के सौन्दर्य पर केन्द्रित हो चुका था और उसका उनके जीवन की प्रगति के साथ-साथ इतना विकास हुआ कि वह कला के अन्तिम चरण 'सुन्दरम्' तक पहुंच गया। उनके अक्षर इतने सुन्दर, आकर्षक और आकृति में समतल एवं सन्तुलित हैं कि आजकल के छापे के अक्षर भी उनके सामने शोभाहीन प्रतीत होते हैं। उनके द्वारा लिखित नमूने के तौर पर दी गई ग्रंथ में शास्त्र के पन्नों की फोटो स्टेट कापी से पाठकों को उनकी उच्च कोटि की लेखन कला का भली प्रकार साक्षात्कार हो जायेगा। जैन शास्त्र में बत्तीस अक्षरों की एक पक्ति को ग्रन्थ के नाम से अभिहित किया जाता है। मुनि चान्दमलजी महाराज ने एक लाख ग्रन्थों अर्थात् बत्तीस अक्षरों की पंक्तियों को अपने जीवन में लिखा। उनके द्वारा लिपिबद्ध अनेक ग्रन्थ यत्र-तत्र राजस्थान के भण्डारों में विद्यमान हैं। इन मणियों के समान सुन्दर, मोतियों के समान कान्तिमान् और दाड़िम के बीजों के समान सुव्यबस्थित अक्षरों को देखकर किस कलाकार का मन मुग्ध नहीं हो जाता। आत्म नैर्मल्य की, मानस-सौन्दर्य की हस्तलाघवकी, अंगुलियों की सुकुमारता की, मस्तिष्क के संतुलन की, ज्ञान की गरिमा की, ध्यान की महिमा की, एकाग्रता की पराकाष्टा की, लिपिपरिमार्जन निष्ठा की, सत्यं, शिवं, सुन्दरं की प्रतिष्ठा की, कर्मशील कलाकार की कर्मठता की, लिपि सौन्दर्य की सुष्मा की, कलाकृति की उष्मा की, परमपावन-आपगा-सरस्वती के कमनीय कूलों पर-विकसित-सुरभित-कमलों की क्रोड़ में सतत-क्रीड़ा-निरत-भ्रमरों की सी कालिमा से अलंकृत मुनि चान्दमलजी की लेखनी से प्रस्तुत अक्षर आज भी उनकी, उनके अन्तर के कलाकार की कहानी कहते प्रतीत हो रहे हैं। लिपिकार के रूप में, कलाकार के रूप में और अक्षर

संस्कार के सूत्रधार के रूप में, मुनि चान्दमलजी महाराज सदा अमर रहेंगे।

चाणक्य नीति सार में लेखक का लक्षण करते हुए लिखा है :

> **सकृदुक्तगृहीतार्थो**
> **लघुहस्तो जितेन्द्रियः।**
> **शब्दशास्त्र परिज्ञाता,**
> **एषः लेखक इष्यते ॥**
>
> **चाणक्यनीतिसारः, १०४**

अर्थात्—एक बार कहे गये शब्द के अर्थ को जो तुरन्त समझ जावे, जिसके हाथ में लाघव हो, जो पूर्ण रूपेण, अपनी इन्द्रियों को जीतने वाला हो, जिसको व्याकरण शास्त्र का अच्छा ज्ञान हो ऐसा व्यक्ति ही अच्छा और सुयोग्य लेखक बन सकता है।

मुनि चान्दमलजी महाराज के लिये ये वरीयताएं तो अति सामान्य थी। वे तो इनसे कई गुणा आगे निकल गये थे। ये वरीयताएं तो सामान्य लेखक की हैं। वे तो असाधारण लिपिकार थे और कलाकारों के सरदार थे।

चातुर्मासिक-संस्थान :

संवत्	नगर ग्राम
१९६५	सोजत
१९६६	कुचेरा
१९६७	कुचेरा
१९६८	ब्यावर
१९६९	रायपुर
१९७०	जोधपुर
१९७१	पीपाड़
१९७२	ब्यावर
१९७३	मूंठा
१९७४	कुचेरा
१९७५	रायपुर
१९७६	जोधपुर

१६७७	महामंदिर
१६७८	रीयां
१६७९	पीपाड़
१६८०	नागौर
१६८१	ब्यावर
१६८२	सोजत
१६८३	ब्यावर
१६८४	जोधपुर
१६८५	पीपाड़
१६८६	जयपुर
१६८७	रीयां
१६८८	सादड़ी
१६८९	बगड़ी
१६९०	जयपुर
१६९१	जोधपुर
१६९२	पीपाड़
१६९३	ब्यावर
१६९४	जोधपुर
१६९५	पीपाड़
१६९६	नानणा
१६९७	ब्यावर
१६९८	पीपलिया
१६९९	पीपाड़
२०००	नागौर
२००१	बिरांटिया
२००२	महामन्दिर
२००३	रायपुर
२००४	पीपाड़
२००५	बर
२००६	सोजत
२००७	महामंदिर

२००८	समदड़ी
२००९	महामन्दिर
२०१०	खांमटा
२०११	जोधपुर
२०१२	किशनगढ़
२०१३	गढ़सीवाणा
२०१४	विलेपारले (बम्बई)
२०१५	कांदावाड़ी (बम्बई)
२०१६	कोट (बम्बई)
२०१७	अमरावती (महाराष्ट्र)
२०१८	नागपुर (महाराष्ट्र)
२०१९	राजनांदगांव (मध्य प्रदेश)
२०२०	रायपुर (मध्य प्रदेश)
२०२१	साहुकार पेठ (मद्रास)
२०२२	मैलापुर (मद्रास)
२०२३	अलसूर (बंगलौर)
२०२४	चिकपेट (बेंगलोर)
२०२५	विलेपारले (बम्बई)

चातुर्मासिक—संस्थान के पावन अवसर पर मुनि श्री चान्दमलजी महाराज द्वारा दिये गये कतिपय प्रवचनों की रूपरेखा ।

१. **स्थान : रीयां, विषय : धर्म**—रीयां के चातुर्मास में उन्होंने अपना प्रथम प्रवचन दिया था। वे अपने प्रवचन का आरंभ किसी शास्त्रवचन से किया करते थे। धर्म का विवेचन करने के लिये उन्होंने कहा :

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवावि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥
दशवैकालिक सूत्रम्, १।१

अर्थात्—संसार का सबसे उत्कृष्ट तत्व या मानव-कर्त्तव्य है धर्म का पालन करना और इस धर्म की साधना अहिंसा, संयम और

तपश्चर्या द्वारा होती है। जिस प्राणी का मन सदा धर्म मे निरत रहता है, उसको तो देवता भी नमस्कार करते हैं। सामान्य जनों की तो बात ही क्या है।

आखिर यह धर्म क्या है ? धर्म का अर्थ क्या है ?

वत्थुसहावो धम्मो।

कार्तिकेय,४७८

धर्म कहते है वस्तु के स्वभाव को। कौनसी वस्तु के स्वभाव को ? शरीर के स्वभाव को, धन दौलत के स्वभाव को या अन्य जड़ पदार्थो के स्वभाव को, नही। वे यहा अपेक्षित नही है। यहा अपेक्षित है, जीव। आपने, हम सबने जीव के स्वभाव को या जीव के स्वरूप को समझना है। जीव के स्वरूप को समझना ही धर्म है। जिसने इसको समझ लिया, वह धार्मिक व्यक्ति है, जिसने इसको नही समझा वह अधार्मिक है। सारांश यह है कि हम सबने जीव के वास्तविक स्वभाव को, धर्म को समझना है, या दूसरे शब्दो मे यह कहो कि हमने अपने आपको समझना है। क्या शरीर हम है ? क्या ससार की दौलत हम है ? क्या हमे जो ऐश्वर्य के साधन मिले है—वे हम है ? क्या हमारे सगे सम्बन्धी हम है ? क्या ससार के अन्य जड़ पदार्थ जो हमें बहुत प्रिय है, वे हम है ? नही जीव इन सब से सर्वथा भिन्न है। वह तो शुद्ध, बुद्ध और परमानन्दपूर्ण तत्व है। संसार के पदार्थ नश्वर है, अस्थायी है और क्षणिक है किन्तु जीव अनश्वर है, स्थायी है और अमर है। वह जड शरीर से भिन्न है किन्तु कर्मो के आवरण से अपने को शरीर ही समझने लग गया है। 'मैं पदाधिकारी हूं, मैं उत्तराधिकारी हू, मैं राज्य कर्मचारी हूं आदि-आदि नामों से अपने आपको पुकार कर जीव अपने मे, शरीर मे एकरूपता स्थापित कर रहा है। वह सब मिथ्याज्ञान है और मिथ्याज्ञान का परिणाम दुःख होता है। संसार के जीव इस प्रकार के मिथ्याज्ञान के अन्धकार में भटक कर अनेक प्रकार के क्लेशो, यातनाओं और दु.खो के शिकार बनते है। जब तक जीव मिथ्याज्ञान के अन्धकार को सम्यग् ज्ञान की किरणों से छिन्न-भिन्न नही कर देता तब तक सांसारिक दुःखों से, पीड़ाओं से, असाध्य रोगों से और जन्म, जरा और मृत्यु के जाल से उसका छुटकारा नही हो सकता। मानवतन पाकर भी जिसने अपने स्वरूप को समझने का प्रयत्न नहीं किया, उसे धर्म शास्त्र अधम पुरुष कह कर पुकारते हैं। अन्य

योनियों में जीव को अपने भविष्य-चिन्तन का विवेक नहीं होता, वह मानव-शरीर पाकर जो इस सत्य को नही समझता उसे शास्त्र विवेक-शील मानव नहीं समझते। शास्त्र में लिखा है :

तं तह दुल्लहलंभं, विज्जुलया चंचलं माणुसत्तं।
लद्धूण जो पमायइ, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो॥

आवश्यक निर्युक्ति, ८३७

अर्थात्—जो बड़ी कठिनाई से प्राप्त होने के कारण दुर्लभ है और जो बिजली की चंचल चमक के समान चिरस्थायी नही है, ऐसे मनुष्य के शरीर को पाकर भी जो प्राणी धर्म साधना में प्रमाद करता है, उसे अधम पुरुष ही कहना चाहिये, सत्पुरुष नहीं।

हां, अय यहां उपस्थित श्रावको! आपने अधम पुरुष बनना है अथवा सत्पुरुष? हमारे विचार से कोई भी अपने को अधम पुरुष कहलाना पसन्द नही करेगा परन्तु पसन्द नापसन्द से कोई अधम या सत्पुरुष नहीं बनता। अधम पुरुष पापाचरण से बनता है और सत्पुरुष धर्माचरण से बनता है। मैं चाहता हूं तुम सब सत्पुरुष बनो किन्तु सत्पुरुष का शब्द आपके नाम के साथ जोड़ देने से आप सत्पुरुष नही बन सकते, उसके लिये तो आपको धर्म के तत्व को समझना होगा, धर्म के नियमों का पालन करना होगा और धर्म के विधि-निषेधों को अपने जीवन में उतारना होगा। यह सब इसलिये करना होगा कि तुम धर्म को समझ सको, धर्म के स्वरूप को समझ सको या दूसरे शब्दों में अपने आपको समझ सको। तुम्हारे अन्दर बहुत से श्रावक ऐसे भी हैं जो लखपति हैं, करोड़पति हैं, बेशुमार धन दौलत उनके पास है, क्या वे उससे संतुष्ट हैं? क्या उससे उनके मन में शान्ति की धारा बह रही है? क्या वे दुःखी नहीं हे? क्या उनकी समस्या दिवानिश उनको परेशान नही कर रही? क्या वे रात को चैन की गाढ़ निद्रा में सोते हैं? इन सब प्रश्नों का उत्तर हमें नही में मिलता है। इसका कारण क्या है? इसका कारण है किसी ने भी धर्म को नही समझा, अपने आपको नही समझा और अपने स्वरूप को नहीं पहचाना। जब तक तुम धर्म को नहीं समझोगे तब तक तुम इसी प्रकार अशान्ति के और दुःखों के सागर में गोते खाते रहोगे। यदि धन-दौलत सुख की जननी होती तो धनपति दुःखी क्यों होते? अशान्त क्यों रहते? दिन रात

चिन्ताओं में डूबे क्यों रहते ? यदि धन से स्वर्ग और मोक्ष खरीदे जा सकते तो संसार के सारे निर्धन और अकिंचन नरक में ही जाते। ईसा के युग में ऐसा भी होता था। योरोप में धनिक लोग गिरजाघरों के पादरियों को लाखों रुपये इसलिये दिया करते थे कि वे स्वर्ग में उनका स्थान आरक्षित कर दें। पादरियों के हाथ में स्वर्ग का ठेका था और वे प्रचुर धन लेकर भक्तों की सीट स्वर्ग में पक्की करने का दावा भी करते थे। ऐसी पाखण्ड पूर्ण स्थिति को देखकर ही महात्मा ईसा को कहना पड़ा था, 'सूई के छिद्र में से ऊंट को तो निकाला जा सकता है, उसकी सभवता तो है किन्तु धनिक व्यक्ति का स्वर्ग के द्वार के अन्दर प्रवेश सर्वथा असंभव है'। वास्तव मे स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति के लिये न तो धन साधन बन सकता है और न ही निर्धनता बाधक बन सकती है। सम्पन्नता और अकिंचनता तो कृत्रिम स्थितिया है जिनका आत्मा के वास्तविक स्वभाव से कोई सम्बन्ध नही है। जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझ लेता है उसके लिये, चाहे वह सम्पन्न हो चाहे निर्धन, स्वर्ग में जाना कठिन नही और मोक्ष को प्राप्त करना अशक्य नही। इसीलिये तीर्थंकरों का उपदेश है कि मानव को चाहिये कि वह सर्वप्रथम धर्म के महत्व को समझे, उस पर आचरण करे और उसका आश्रय ले। धर्म से बढ़ कर दु:खों से छुटकारा दिलाने के लिये उसको कोई शरण देने वाला ससार में नही है। शास्त्र का कथन है :

जरामरणवेगेणं, बुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठाय, गई सरणमुत्तमं ।।

उत्तराध्ययन सूत्र २३।६८

अर्थात्—जरा और मरण के महाप्रवाह में डूबते हुए प्राणियों की रक्षा के लिये धर्म ही द्वीप है, प्रतिष्ठा का आधार है : गति है और उत्तम शरण है।

एक्को हि धम्मो नरदेव ! ताणं,
न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ।।

वही० १४।४०

अर्थात्—हे राजन ! एक धर्म ही जीव की रक्षा करने वाला है, उसको छोड़कर संसार में कोई उसको शरण देने वाला नहीं है।

धर्मो बन्धुश्च मित्रश्च धर्मोऽयं गुरुरंगिनाम्।
तस्माद् धर्मे मतिं धत्स्व स्वर्मोक्षसुखदायिनि ॥

आदिपुराण, १०।१०९

अर्थात्—धर्म ही मनुष्य का सच्चा बन्धु है, मित्र है और गुरु है। अतएव स्वर्ग और मोक्ष दोनों की प्राप्ति कराने वाले धर्म मे अपनी बुद्धि को स्थिर रखो।

ऊपर जो मैंने शास्त्रों के उदाहरण दिये है उनसे धर्म की महानता और धर्म की गरिमा का तो पता चलता है किन्तु मात्र महानता और गरिमा जान लेने से धर्म का बोध नही होता। धर्म तो आचरण की वस्तु है, अनुभूति की वस्तु है और पालन की चीज है। कैसे, किस रूप में, किस विधि-विधान से उसका आचरण करना चाहिये, यह जानना परमावश्यक है। अपने प्रवचन के आरंभ में मैंने जो शास्त्र की गाथा पढी थी उसमें पहले चरण में तो धर्म की उत्कृष्टता बताई थी और दूसरे में उसके आचरण की पद्धति का निर्देश था। दूसरे चरण का भाव था कि इस उत्कृष्ट धर्म का आचरण अहिंसा, संयम और तप द्वारा हो सकता है। दूसरे शब्दों में गाथा के दूसरे चरण में आचरण की विधि का विधान है। जो व्यक्ति अपने जीवन में अहिंसा के सिद्धान्त का, संयम के संचरण का और तपश्चर्या की चर्या का पालन करता है, वही सच्चा धार्मिक व्यक्ति है। हिंसा पाप की जननी है, असंयम इन्द्रियों की दासता के कर्दम में धकेलने वाला है और तप का अभाव कर्मों के आस्रव को प्रोत्साहन देने वाला है। हिंसा से पापकर्म का बन्ध होता है, इन्द्रियों की उच्छृंखलता पाप कर्म में और योगदान देती है और तपश्चर्या का अभाव कर्मों के आस्रव के प्रवाह को और गतिशील बनाता है। कर्म प्रवाह की प्रगति से जीव जन्म-मरण के चक्कर की ओर, असह्य दुःखों की ओर और घोर नारकीय यातनाओं की ओर बढ़ता है। अपने ही अज्ञानता के दोष से, अज्ञानता के आवरण से, अज्ञानता के अन्धकार से ऐसा सब होता है। जीव अत्यन्त दुखी होता है, दुःख उसका स्वभाव नहीं है, इसलिये उसे अच्छा नहीं लगता। वह सुख चाहता है, आनन्द चाहता है और चाहता है दुःखों से छुटकारा।

दुःखों के उसी परिताप से छुटकारा दिलाने के लिये जिनवाणी उसे सचेत करती हुई कहती है कि तू धर्म का आचरण कर और वह आचरण कैसे कर—अहिंसाव्रत के पालन द्वारा, संयम धारण द्वारा और तपश्चर्या द्वारा। अहिंसा का व्रत लेकर तुम किसी जीव का अपने स्वार्थ के लिये घात नही करोगे। अपनी असावधानी के कारण भी जीवहिसा नही करोगे। अहिसाव्रत के पालन से तुम्हारे में समता की भावना का जन्म होगा। संसार के प्राणीमात्र को तुम अपने समान समझने लगोगे। जो दुःख तुम्हे प्रिय नही है वह तुम और किसी को भी देना नही चाहोगे। तब तुम 'पापाय परपीड़नम्' अर्थात्—दूसरे जीव को दुःख पहुचाना पाप समझने लगोगे, धर्म पालन द्वारा, इस पाप से तुम्हारी निवृत्ति होगी और शुभ कर्म में प्रवृत्ति होगी। इस प्रकार धर्म के पालन का एक साधन तो अहिसा धर्म का पालन है। इन्द्रियों पर सयम रखने से इन्द्रियो के भिन्न-भिन्न प्रलोभनीय विषयों की ओर तुम्हारी प्रवृत्ति का निरोध हो जायेगा। तुम अपने दैनिक जीवन मे यह भली प्रकार अनुभव करते हो कि जिन विषयो के उपभोग के लिये तुम्हें अनेक प्रकार के पापाचरण करने पडते है, उनका परिणाम पश्चातापमय होता है। कौनसा आचरण अच्छा है और कौनसा बुरा, इसको जान लेना कोई कठिन बात नही है। जो आदि, मध्य में तो सुखमय लगे किन्तु परिणाम मे दु.ख रूप हो, वह आचरण अच्छा नही माना जाता। जो आदि और मध्य में भले ही कष्टदायक हो किन्तु परिणाम में सुन्दर हो वही आचरण अच्छा माना जाता है। इन्द्रियों पर सयम रखने से जीव अन्तर्मुखी बनता है और अनेक प्रकार की पाप की प्रवृत्तियों से बचा रहता है। पाप प्रवृत्तियो से बचना जीव के लिये इसलिये हितकारी है क्योकि ऐसा करने से उसके आगामी पापकर्म-बन्ध का निरोध हो जाता है। यह सयम मन का, वचन का, शरीर का और संग्रह की प्रवृत्ति—चारो का होना परमावश्यक है। इन्द्रियों के दास के लिये शास्त्र का कथन है :

मोहं जंति नरा असंवुडा।

सूत्रकृतांग, १।२।१।२७

अर्थात्—इन्द्रियों का दास असंवृत मनुष्य हित और अहित—निर्णय के समय मोहग्रस्त हो जाता है।

इसलिये इन्द्रियों की दासता से मुक्ति पाने के लिये, मन के ऊपर ज्ञान द्वारा नियंत्रण-संयम रखना चाहिये। इसके अतिरिक्त आगम के इस वचन को कभी नहीं भूलना चाहिये :

खणमित्तसुक्खा, बहुकालदुक्खा।

उत्तराध्ययन, १४।१३

अर्थात्—संसार के विषय भोग क्षणमात्र के लिये ही सुख देने वाले हैं किन्तु उनके भोग के परिणामस्वरूप दुःख चिरकाल तक भोगना पड़ता है।

बिना तपश्चर्या के पूर्वभवार्जित और इहभवार्जित कर्मों का क्षय होना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार सोने में मिला मैल अग्नि में तपाने से सोने से अलग हो जाता है और सोना तपने के परिणामस्वरूप अपनी असली चमक देने लगता है ठीक इसी प्रकार तपश्चर्या द्वारा आत्मा मे लिप्त कर्मों का क्षय हो जाता है और कर्मों के क्षय के फलस्वरूप वह स्व-स्थिति, स्व-स्वरूप स्थित होकर शुद्धज्ञानमय बन जाता है और उसके जन्म-मरण के बन्धन, दुःख, यातनाए और नारकीय पीड़ाए, सबका अन्त हो जाता है। बिना तपश्चर्या के कर्मों की निर्जरा कदापि सम्भव नही है, इसलिये शास्त्रकारो ने धर्म के जिज्ञासु साधक के लिये अहिसा और संयम के साथ-साथ तपश्चर्या का भी विधान किया है। अब तुम अच्छी तरह समझ गये होगे कि अहिसा, संयम और तपश्चर्या द्वारा आराधना किया जाने वाला धर्म किस प्रकार अधम आत्मा को उत्तम बना देता है, किस प्रकार निकृष्ट पुरुष को सत्पुरुष बना देता है, और किस प्रकार आत्मा को परमात्मा बना देता है। तुम्हारी अधम पुरुष के रूप में रहने की इच्छा है तो खूब संसार के भोगो को भोगो और अनन्तकाल तक दुःख के महासागर में गोते खाते रहो, और यदि सत्पुरुष बनना है, आत्मरूप से परमात्मपद को पाकर संसार के सब दुःखों से छुटकारा पाना है तो धर्म की आराधना करो, अहिसा का पालन करो, संयम को धारण करो और तपश्चर्या का आचरण करो।

हमें तो बड़ा आश्चर्य होता है यह देखकर कि धर्म का आचरण तो लोग सत्संग और प्रसंग आने पर भी करके राजी नही है किन्तु

पाप का आचरण तो बडे प्रयत्न से और लगन से करते हैं। इस मानव की दुर्लभ देह को पाकर लोग अमृतरूपी धर्म का त्याग करके पापरूपी विष का पान करते है।

आजकल तो कलियुग चल रहा है। संभवत: यह युग का ही प्रभाव है। किसी विद्वान् ने कलियुग का वर्णन करते हुए लिखा है :

धर्मः प्रव्रजितस्तपः प्रचलितं सत्यं च दूरं गतम्।
पृथ्वी वन्ध्यफला जनाः कपटिनो लौल्ये स्थिता ब्राह्मणाः।
मर्त्याः स्त्रीवशगाः स्त्रियश्च चपला नीचा जना उन्नताः,
हा कष्टं खलु जीवितं कलियुगे धन्या जना ये मृताः॥

सु०र०भा० पृ०, ३८६ श्लो०, ४८८

अर्थात्—ऐसा है यह कलियुग जिसमे धर्म ने तो संन्यास ले लिया है—अर्थात्—धर्म लोक जीवन से उठ गया है; तपकी भावना भी लोक छोड कर चली गई है; सत्य का भी लोगों ने त्याग कर दिया है, पृथ्वी फलहीन हो गई है, लोग अत्यन्त कपट से भरे हुए है; ब्राह्मण लालची बन गये है, पुरुष स्त्रियों के दास बन कर रहते है; स्त्रिया अत्यन्त चचल प्रकृति वाली है, छोटे दर्जे के लोग ऊचे-ऊचे पदो पर आसीन है। कितना कष्टमय है, इस कलियुग मे जीना। वे धन्य हैं जो इसे नही देख रहे।

परन्तु यह स्मरण रखो कि युग का प्रभाव तुम्हे धर्म कर्म से रोक नही सकता। कही यह बहाना ढूढलो कि जी 'कलियुग का प्रभाव है, हम क्या करें' यह तो झूठा बहाना है। जीव की गति ऊर्ध्वगामी है, वह किसी भी युग का हो, यह अपनी ऊर्ध्वगामी प्रकृति का त्याग कभी नही कर सकता। धर्म की आराधना सभी युगो मे होती है, सभी युगो मे पुण्यवान जीव धर्म की आराधना द्वारा आत्म-कल्याण करते है और कर्मों का क्षय करते है। मैंने जिस विद्वान् का श्लोक अभी सुनाया है, जिसमे कहा गया है कि धर्म ने सन्यास ले लिया है, उसका अर्थ अपेक्षा से है अर्थात्—दूसरे युगों की अपेक्षा से कलियुग में धर्माचरण बहुत कम है।

अन्त में मेरा सब श्रावकों को यही उपदेश है कि संसार की नश्वर क्रियाओं की, क्षणिक सुख देने वाले और परिणाम में दुखावह विषयो की, और जड़ पदार्थों के ममत्व की उपेक्षा करके तुम धर्म की

आराधना करो। यदि तुम अपने दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति चाहते हो, मानव जीवन की सफलता के पक्षपाती हो, अपनी आत्मा के उत्थान के अभिलाषी हो, ज्ञान की गरिमा के समर्थक हो, आत्मसत्व की महिमा को मानने वाले हो, संसार की असारता को समझने वाले हो, प्रत्येक जीव की जान के महत्व को जानने वाले हो, सांसारिक माया जाल की जघन्यता को पहचानने वाले हो, जीव के दुःखों की कालिमा के कलंक को परखने वाले हो और आत्म-शुद्धि की साधना के सन्मार्ग को सराहने वाले हो तो धर्म की धुरीणता को समझो, समझकर उसका मनन चिन्तन करो, धर्म को आत्मसात करो और धर्म के परमपावन पथ पर अपने कदम बढ़ाओ। धर्म से तुम्हारी बुद्धि सुसंस्कृत बनेगी, पावन बनेगी और निर्मल बनेगी। बुद्धि के नैर्मल्य से तुम्हारा अन्तःकरण पाप की प्रवृत्तियो की ओर नहीं बढ़ सकेगा। पापके निरोध से कर्मों का निरोध होगा, कर्मों का आस्रव जीव में रुक जायेगा। धीरे-धीरे जीव तपश्चर्या के आश्रय से कैवल्य की ओर अग्रगामी बनेगा और परमपद को प्राप्त करने में समथ होगा। इस प्रकार तुम्हारे आत्मा के कल्याण की आधारशिला धर्माचरण है। यही कारण है और यही भावना है मेरी जिसको लेकर मैंने अपने प्रवचन के आरंभ में धर्म की प्रशंसा के और उत्तमता के विषय में शास्त्र वचन सुनाया था कि इस नश्वर संसार मे जीव के कल्याण के लिये मात्र धर्म ही एक उत्कृष्ट मंगल है जिसका आचरण अहिंसा, संयम और तपश्चर्या द्वारा करना चाहिये।

२. स्थान : जोधपुर, विषय : अहिंसा—संवत् १९९१ वे में मुनि श्री चान्दमलजी महाराज ने "अहिंसा महाव्रत" पर प्रवचन देते हुए कहा था ·

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।

दशवैकालिकसूत्रम् ६।११

अर्थात्—संसार के सब जीव जीवित रहना चाहते हैं, कोई भी मरना नही चाहता।

सव्वे पाणा पिआउआ,
सुहसाया दुक्खपडिकूला,
अप्पियवहा पियजीविणो,

जीविउकामा,
सव्वेसिं जीवियं पियं,
नाइवाएज्ज कंचणं ।।

आचारांग, १।२।३

अर्थात्—सब प्राणियों को अपना जीवन प्यारा है। सुख सबको अच्छा लगता है, और दु ख बुरा। वध सबको अप्रिय है, और जीवन प्रिय। सब प्राणी जीना चाहते हैं। कुछ भी हो सबको जीवन प्रिय है। अत' किसी भी प्राणी की हिसा मत करो। और शास्त्र का यह भी कथन है :

आयओ बहिया पास।

आचारांग, १।३।३

अर्थात्—अपने समान ही बाहर के सब प्राणियों को देखो।

हिसा का अर्थ है पागलपन मे आकर दूसरे जीव के प्राणों का हरण करना। आज के युग मे ऐसे पागलों की कमी नही है। वास्तव मे तो उनके आयुष्य कर्म की प्रकृति ने, लोक भाषा मे ईश्वर ने या किसी भी और शक्ति ने सब प्राणियों को समान रूप से जीने का अधिकार दे रखा है, फिर किसी का क्या अधिकार है कि दूसरे प्राणियों को जो मूक हैं, निर्बल है या लाचार है उनकी अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये, अपना पेट भरने के लिये या अपने दैनिक उपकरणो का निर्माण करने के लिये हत्या करे ? ससार के सभी जीव भले ही उनमें से बहुतो की ज्ञानेन्द्रिया अधिक विकसित न हुई हो, तुम्हारी तरह ही सुख से जीना चाहते है, सुख से रहना चाहते है। और सुख से अपने वश की परम्परा को स्थायित्व देना चाहते है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार तुम्हारी आकांक्षाए हैं, इच्क्षाए हैं और अभिलाषाए है, सुख से जीने की, रहने की और अपनी वंश परम्परा की प्रगति देखने की। जिसको तुम अपने लिये उचित नही समझते, वह दूसरों के अनुकूल कैसे होगा ? जिस बात की इच्छा तुम्हे खलती है वह दूसरो को सुखकर कैसे होगी ? जिसकी कल्पना तुम्हारे लिये भयावह है उसकी कार्यरूप में परिणति अन्य के लिये सुखावह कैसे बनेगी और जिस शस्त्र के प्रहार से तुम तिलमिला जाते हो, कांपने लगते हो और असह्य वेदना का अनुभव करते हो, उसका प्रहार दूसरे प्राणियों में कितनी असह्य पीड़ा उत्पन्न

करता होगा—इसकी तुम कल्पना तो करके देखो। यदि तुम वास्तव में इन्सान हो, राक्षस नहीं, तो प्राणी वध की कल्पना मात्र से तुम्हारा दिल दहलने लगेगा। परन्तु आज का इन्सान, इन्सान कहां रह गया है, वह तो हैवान से भी पापकर्म में आगे बढ़ना चाहता है। पौष्टिक आहार के लिये अन्य साधन—घी, दुग्ध और फल व सब्जियों के सद्भाव में भी वह प्रतिदिन मांसाहार के लिये असंख्य प्राणियों का वध करता है। वस्त्र तथा अन्य परिधान के उपकरणों के उपयोग में लाने के लिये असंख्य जंगली जानवरों की शिकार द्वारा, विषप्रयोग द्वारा, तथा जाल द्वारा हत्या करता है। वह अपने क्षणिक सुख के लिये दूसरे जीवों को प्राणों से वञ्चित करता है। ठीक ही किसी विद्वान् ने कहा है :

एकस्य क्षणिका वृत्तिरन्यः प्राणैर्वियुज्यते।

आज के विज्ञान-युग का मानव अपने आपको बड़ा ही सुसभ्य, सुसंस्कृत, प्रगतिशील और बौद्धिक विकास मे अग्रगण्य मानता है परन्तु मैं पूछता हूं कि क्या अपने मिथ्यास्वार्थ के लिये दूसरे प्राणियों की हत्या करना सभ्यता है, क्या निरपराध और निरीह जीवो की हत्या द्वारा प्राप्त मांस भोजन से अपने पेट को कब्रिस्तान बनाना ऊंची संस्कृति है, दूसरो के दु ख को अपने दु ख के समान न समझना क्या प्रगति की निशानी है, और अपने से निर्बल जीवों को गोली का निशाना बनाना, उनकी गर्दन पर छुरी चलाना, उनको विष देकर मार डालना, उनको हलाल करके मारना या झटके से क्या बौद्धिक विकास की चरम सीमा है? यदि यही सभ्यता है, संस्कृति है और बौद्धिक विकास है तो फिर असभ्यता, कुसंस्कृति और बौद्धिक ह्रास क्या होगा? आधुनिक युग की सभ्यता और संस्कृति मे पनपे उन लोगों की बात तो छोड़ो जिनके सामने पुण्य पाप नामकी कोई वस्तु नही है। "खाओ, पीओ और इन्द्रियों को सन्तुष्ट करो" वे तो इस बात को मानने वाले हैं परन्तु ऐसे लोग जो अपने आपको धार्मिक कहलाने का दावा करते हैं और फिर भी मांसाहार आदि से जीवहत्या को प्रोत्साहन देते हैं, उन पर बडी दया आती है। इन लोगों ने अपनी मान्यता की पुष्टि के लिये युक्तियां भी निकाल रखी हैं। ये लोग एक तीर से दो शिकार करने वाले हैं। वे इस बात को तो मानते हैं कि जीवहत्या से पाप होता है परन्तु उस पाप को धोने के लिये उनके पास बड़े ही सरल

उपाय है। किसी तीर्थ में गोता लगाया सारा पाप धुल गया। किसी धर्मस्थान पर देवता का नाम लेकर प्रसाद बांट दिया, तो सारा पाप समाप्त हो गया, किसी को मोटी दक्षिणा देकर घर में किसी देवता के नाम का जाप करवा लिया तो बस सारा पाप झड़ गया। ऐसे लोग इस सत्य से सर्वथा अनभिज्ञ हैं कि जो पाप कर्म एक बार आत्मा से चिपक जाते हैं, उनका क्षय तो उनके भोगने से ही होता है। शास्त्र का कथन है :

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

उत्तराध्ययन सूत्रम्, ४।३

अर्थात्—अपने किये हुए कर्मों से जीव तब तक छुटकारा नहीं पा सकता जब तक वह स्वयं उन्हें भोग न ले।

जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं,
तमेव आगच्छति संपराए।

सूत्रकृतांग, १।५।२

अर्थात्—अतीत काल मे जैसा भी कुछ कर्म किया गया है, भविष्य मे वह उसी रूप में भोगना पड़ता है।

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता,
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमानः,
स्वकर्म सूत्रग्रथितो हि लोकः॥

सु० र० भा० ६२,५७

अर्थात्—यह सोचना कि सुख या दुःख मुझे कोई दूसरा दे रहा है, यह बड़ी भारी भूल है, यह तो एक प्रकार की कुबुद्धि है। मैं सब कुछ करने वाला हूं, यह मिथ्याभिमान है। संसार के सब प्राणी अपने-अपने किये हुए कर्मों के सूत्र मे गुथे हुए है। जैसा कर्म जिस जीव ने किया है उसका फल उसे भोगना पड़ता है।

केवल मात्र यही नहीं :

येन यत्रैव भोक्तव्यं सुखं वा दुःखमेव वा।
स तत्र बद्ध्वा रज्ज्वेव बलाद्दैवेन नीयते॥

भर्तृहरिसुभाषितसंग्रहः, ६६२

अर्थात्—जिस जीव ने जो दुःख या सुख जहां भोगना होता है वह उसी स्थान में बलात् ऐसे चला जाता है जैसे किसी ने उसे रस्सी से बान्ध कर वहां ला पटका हो। कर्मों की शक्ति उसे बाध्य कर देती है उसी प्रकार सुख और दुःख भोगने के लिये। एक जैनाचार्य के ग्रन्थ का प्रबन्ध मुझे इस प्रसंग में याद आ गया है जो आपके सामने प्रस्तुत करता हू।

"कई शताब्दी पूर्व की यह घटना है जबकि यातायात के साधन बहुत कम थे। सामान्य लोग प्रायः पैदल ही लम्बे मार्ग तय किया करते थे। सौराष्ट्र में सोमनाथ का एक बहुत पुराना ऐतिहासिक मन्दिर अब भी विद्यमान है। किसी भक्त के मन में यह भावना जागृत हुई कि वह सोमनाथ की यात्रा करके भगवान् के दर्शन करे। वह चल पड़ा अकेला ही घर से। कई मास व्यतीत हो गये उसे चलते-चलते। केवल सौ मील चलना बाकी था। सूर्य अस्त होने जा रहा था और धर्म-यात्री थक कर चूर-चूर हो गया था। एक छोटा-सा गांव आया और यात्री ने वहां रात बिताने का निश्चय किया। एक किसान का घर था, गृह स्वामी से रात्रि निवास की प्रार्थना की और स्वीकृति मिल गई। उस घर में मात्र किसान और उसकी पत्नी का निवास था। अतिथि यात्री को बड़े प्रेम से भोजन खिला दिया गया और उसका यथासंभव अतिथि सत्कार किया गया। रात्रि को किसान की पत्नी अपने अलग कमरे में सो गई और किसान तथा यात्री अलग के एक कमरे में अपनी चारपाई पर सोने के लिये लेट गये। किसान तो गहरी नीन्द में सो गया किन्तु यात्री यद्यपि बहुत थका हुआ था किन्तु उसे नीन्द नहीं आ रही थी। वह प्रयत्न करने पर भी इस निद्राभाव का कारण नहीं समझ पा रहा था। रात के बारह बज गये। अचानक ही उसे उस कक्ष के द्वार खुलने की ध्वनि सुनाई दी जिसमें किसान की पत्नी सो रही थी। उसके कमरे में सरसों के तेल का दीपक टिम-टिमा रहा था। यात्री ने अपने अन्धकारपूर्ण कमरे से किसान पत्नी को हाथ में चारा काटने का गंडासा लिये हुए खड़े देखा। वह उसके कमरे की ओर मन्द और आहटहीन पदचाल से बढ़ने लगी। यात्री भयभीत हो गया किन्तु अपनी खाट पर इस मुद्रा में लेटा रहा जैसे वह गहरी नीन्द में सो रहा हो। 'मुझे मारने के लिये वह मेरी खाट

के पास आयेगी, तो मैं भाग खड़ा हो जाऊंगा' ऐसा सोचकर वह पड़ा रहा। उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उसने देखा कि वह किसान पत्नी उसकी खाट की तरफ न बढ़कर अपने पति की खाट की तरफ बढ़ी और एक ही झटके से गंडासे से सोए हुए अपने पति की गर्दन अलग कर दी और गंडासे को यात्री की खाट की ओर पटककर यह शोर मचाने लगी बड़े जोर-जोर से कि इस अज्ञात यात्री ने मेरे पनि की हत्या करदी है। गाव के लोग, पड़ौस के लोग सब एकत्रित हो गये और बहुत बुरी तरह से पीटने लगे यात्री को। जाट के एक सम्बन्धी ने उसी गडासे से जिससे किसान की हत्या की गई थी, यात्री के दोनों हाथ काट डाले। प्रातःकाल यात्री को धक्के देकर गाव से निकाल दिया गया। मार्ग में किसी दयालु पुरुष ने यात्री के ही वस्त्र से उसके दोनो हाथों पर जिनसे रुधिर की धारा बह रही थी पट्टी बान्ध दी जिससे रक्त का स्राव रुक जाये। रोता चिल्लाता यात्री अपने यात्रा-मार्ग पर चलने लगा। उसने यह निश्चय किया कि अब वह किसी गांव मे रात्रि नही काटेगा। सायंकाल हुआ तो वह एक वृक्ष के नीचे रात बिताने के लिये बैठ गया। पीड़ा के कारण तड़पते हुए उसने कहा, 'हे सोमनाथ! मैं तो तेरे दर्शनों के निमित्ति सैंकड़ों कोस की यात्रा करके आ रहा था। यह तो शुभ कर्म था, क्या इस शुभ कर्म का यही फल मुझे मिलना था? यदि शुभकर्म का यही परिणाम है तो भविष्य में तेरे दर्शनों के लिये कौन इतनी लम्बी यात्रा करेगा?' वृक्ष से आवाज आई:

यात्रि! निःसन्देह तुम्हारा यह कर्म तो शुभ है किन्तु पूर्व भव मे जो तू पाप कर्म करके आया है उसका फल कौन भोगेगा? यह तुम्हारे पूर्व भव के पापकर्म का फल है। पूर्व जन्म में पास के ही एक गाव मे तुम एक निर्धन परिवार मे पैदा हुए थे। माता-पिता मर चुके थे, केवल तुम और तुम्हारे बड़े भाई बाकी बच गये थे सारे परिबार में। निर्धनता के कारण दोनों में से किसी का भी विबाह नही हो पाया था। दोनो ने दूध पीने के लिये एक बकरी पाल रखी थी। जब बकरी ने दूध देना बन्द कर दिया तो बड़े भाई ने तुम से कहा: 'अब यह बकरी दूध तो देती नहीं, अब इसकी सेवा करने से क्या लाभ? क्यों न इसे मारकर

इसके मांस का आहार किया जाये ?' तुमने स्वीकृति दे दी। तुमने बकरी के कान पकड़े और तुम्हारे बड़े भाई ने गंडासे के एक ही झटके से बकरी का गला काट डाला और उसके मांस का आहार बनाया। समय आने पर दोनों कालग्रस्त हो गये। जिस घर में तुम अतिथि थे वह घर तुम्हारे बड़े भाई का और बकरी का उत्तर भव का घर है और तुम्हारा भी यह उत्तर भव है। इस भव में, उस घर में जो किसान था वह तुम्हारे पूर्व भव का बड़ा भाई था, पूर्व भव में जो बकरी थी वह उसकी पत्नी थी। तुम्हारा जन्म तो यहां से बहुत दूर प्रान्त में हुआ था किन्तु कर्मों की शक्ति तीर्थयात्रा के निमित्त से तुम्हें यहां खींच लाई थी। बकरी का गला तुम्हारे बड़े भाई ने काटा था, उसका बदला तो बकरी के जीव ने लेना ही था, बकरी के जीव ने पत्नी के रूप में अपने पूर्व जन्म के शत्रु का गला गडासे से काटकर बदला लिया और तुमने क्योंकि बकरी के दोनो कान पकड़े थे उसकी हत्या करवाने के लिये, इसलिये इस भव में तुम दोनों हाथों से वंचित कर दिये गये हो। पाप कर्मों का फल तो भोगना ही पड़ता है, चाहे इस भव मे भोगना पड़े चाहे उत्तर भव मे।"

इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि चाहे कोई कितनी ही तीर्थ यात्रा करले, तीर्थो मे गोते लगाले और पाप कर्म के निवारण के लिये दूसरों से पूजा पाठ करवा लें किन्तु कर्मों का जीव से जो चिपकाव हैं वह बिना उनका शुभाशुभ फल भोगे मिट नही सकता।

"जीओ और जीने दो" यह ईसाईयों का भी उपदेश है, किन्तु वे प्रायः मांसाहारी है। 'अहिंसा परमोधर्म': यह बुद्ध का भी सन्देश है किन्तु अधिक संख्या में बौद्ध भी मांसाहारी हैं : 'अहिंसा परमो धर्मः यह मनुमहाराज का भी सिद्धान्त है लेकिन मांसाहार त्याग करने वालों की संख्या बहुत कम है, 'यदि वस्त्र पर रक्त का एक धब्बा भी लग जाये तो वह वस्त्र अपवित्र माना जाता है किन्तु जो लोग रक्त पीते हैं, जीवों का, उनका मन कैसे निर्मल रह सकता है ?' यह गुरू नानकदेव का भी उपदेश है किन्तु सिक्ख बड़ी संख्या में मासाहारी हैं। केवल एक जैन शासन बाकी बचा है जिसमें अहिंसा के महत्व को सूक्ष्म रूप से समझा गया है और आचरण में लाया गया है। यह दुर्भाग्य की बात है कि आजकल के नई रोशनी से प्रभावित जैन

नवयुवकों में भी अहिंसा धर्म की भावना शैथिल्य पकड़ती जा रही है। उन्हें समझाने बुझाने की और सही भगवान महावीर द्वारा निर्दिष्ट धर्म मार्ग पर लाने की आवश्यकता है। इस काम को उनके माता पिता अपना आदर्श उनके सामने रखकर कर सकते हैं।

हिंसा का अर्थ केवल अपने हाथ से किसी जीव का वध करना नहीं किन्तु जो मन से किसी प्राणी का बुरा चाहता है, वह भी हिंसक है, जो हिंसा करने वाले का वाणी से अनुमोदन करता है वह भी हिंसक है, जो हिंसा करने वाले को प्रोत्साहन देता है वह भी हिंसा का भागी है और जो जीवों का मास बाजार से खरीद कर खाता है वह भी समान रूप से हिंसक है क्योंकि वह शिकारी को और बुचर को जीव हत्या के लिए प्रेरित करता है। विवेकशील व्यक्ति को जो पाप से बचना चाहता है, जो पापकर्मबन्ध से छुटकारे की अभिलाषा रखता है, जो संसार के जन्म मरण के या आवागमन के चक्र को मिटाना चाहता है।

जो संसार के विषयों के विष को त्याग कर शुभ कर्मरूपी अमृत का पान करना चाहता है, जो अज्ञान के अन्धकार से भाग कर प्रकाश में आना चाहता है, जो सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चरित्र के रत्नों की किरणों से अपने जीवन को आलोकित करना चाहता है, जो असंयत जीवन के भयानक विपाक का प्रत्याख्यान करना चाहता है, जो कर्मों के आवरण से निवृत्ति चाहता है, जो शुभ कर्मों की निर्जरा द्वारा मोक्षपथ पर पैर रखना चाहता है, उसे चाहिये कि वह मन से, वाणी से और कर्म से न तो स्वयं किसी जीव की हिंसा करे, न किसी से करवाए और न ही किसी को करते हुए देख कर उसका अनुमोदन करे। उसे चाहिये कि वह आगम के निम्नलिखित वचन को सदा ध्यान में रखे :

> तुमंसि नाम तं चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि।
> तुमंसि नाम तं चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि।
> तुमंसि नाम तं चेव जं परियावेयव्वं ति मन्नसि।
>
> आचारांग सूत्रम् १५।५

अर्थात्—जिसे तू मारना चाहता है वह तू ही है। जिसे तू शासित

करना चाहता है, वह तू ही है। जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।

३. स्थान : नागौर, विषय : मोह का बन्धन : संवत् २००० में नागौर नगर में अपने चातुर्मासिक प्रवास के पावन मौके पर 'मोह के बन्धन पर' अपना प्रवचन देते हुए मुनि श्री चान्दमलजी महाराज ने कहा था :

'मोहमूलाणि दुक्खाणि'।

इसिभासियाणि, २।७

अर्थात्—संसार में प्राणी जिन अनेक प्रकार के दुःखों से आक्रान्त होते हैं, उनका मूल कारण मोह की भावना है।

आठ कर्मों में से चौथा स्थान मोहनीय कर्म का है। मोह एक प्रकार की उन्मादजनक मदिरा है जो जीव को विवेकशून्य बना देती है। यह मोहनीय कर्म शास्त्र में दो प्रकार का माना है : दर्शन मोहनीय कर्म और चरित्र मोहनीय कर्म। सम्यग्दर्शन के प्रादुर्भाव में विकृति को उत्पन्न करना, दर्शन मोहनीय कर्म का काम है। यह भी तीन प्रकार का है : मिथ्यात्व मोहनीय, सम्यक् मिथ्यात्व मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय। इस प्रकार चारित्र मोहनीय कर्म के भी अनेक भेद है जिनका विस्तृत विवरण उत्तराध्ययन सूत्र के ३३ वे अध्याय में मिलता है। हा, तो मैंने प्रवचन के आरम्भ में कहा था कि मानव जीवन के दुःखों का मूल कारण मोह की भावना है। शास्त्र का तो यहां तक कहना है कि वास्तव में जन्म और मृत्यु का कारण भी मोह की भावना है जिसकी अभिव्यक्ति आचारांग सूत्र मे इस प्रकार की है :

मोहेण गब्भं मरणाई एइ।

आचारांग सूत्र, ५।३

इसके अतिरिक्त शास्त्र का कथन है :

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं,
कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति।

उत्तराध्ययन, ३२।७

अर्थात्—राग और द्वेष तो कर्म के बीज है और मोह से कर्म की उत्पत्ति होती है।

कम्मं च जाईमरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाईमरणंवयंति ।।

वही०

कर्म ही जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण ही वास्तविक दु ख है।

यह मेरी पत्नी है, ये मेरे बच्चे हैं, ये मेरे माता पिता है, ये मेरे हैं, मैं इनका हूं, इस प्रकार की आसक्ति राग कहलाती है। इस राग से प्रेरित होकर आत्मा अपनों के पालन के लिये, पोषण के लिये और रक्षा के लिये अपनी शक्ति से भी बाहर जाकर अनेक प्रकार के कर्म बान्धता है। दूसरे शब्दो में, वह राग रूपी कर्म के बीज बोता है। ये मेरे नही है, ये मेरी आकांक्षाओं के विरुद्ध चलने वाले है, ये मुझे हानि पहुचाने वाले है, ये मेरे सगे सम्बन्धियों से शत्रुता रखने वाले हे · ऐसी भावना कुछ लोगो के प्रति रखता हुआ व्यक्ति उनको अपना शत्रु मानने लगता है और उनके प्रति सदा मन मे द्वेष की भावना रखता है। मात्र द्वेष ही नही रखता किन्तु शस्त्र आदि के प्रहार से उनका हनन या ताड़न करता हुआ पाप कर्म बान्धता है। इस प्रकार पापरूपी कर्म का द्वेष बीज बन जाता है। इन सारे राग-द्वेष से जनित पाप कर्मों की भूमिका मोह के विकार से जन्म भी लेती है और पनपती भी है। राग-द्वेष के वशीभूत होकर, मोह विकार से जन्म लेने वाले पाप कर्मों के परिणामस्वरूप ही जीव जन्म-मरण के चक्कर मे पड़ता है और जन्म-मरण की शृंखला में बन्धना ही दु.ख है। इस प्रसंग मे तृष्णा का उल्लेख करना भी परमावश्यक है। तृष्णा और मोह का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित माना जा सकता है। तृष्णा मोह से उत्पन्न होती है और मोह तृष्णा से उत्पन्न होता है। शास्त्र में वलाका का उदाहरण देते हुए लिखा है ·

जहा य अंडप्पभवा बलागा,
अंडंबलागप्पभवं जहा य ।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा,
मोहं च तण्हाययणं वयंति ।।

उत्तराध्ययन सूत्रम्, ३२।६

अर्थात्—जिस प्रकार बलाका-बगुली अण्डे से उत्पन्न होती है और अण्डा बलाका से, ठीक इसी प्रकार मोह तृष्णा से उत्पन्न होता है और तृष्णा मोह से।

यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जिसके प्रति हमारा मोह होता है उसके प्रति हमारी तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। उदाहरण के लिये, धनको ही ले लीजिये। सौ से हज़ार की, हज़ार से लाख की, लाख से करोड़ की तृष्णा लोगों के जीवन में हम प्रतिदिन देखते हैं। तृष्णा की सीमा अनन्त है। इसी भाव को किसी विद्वान् ने विस्तृत रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा है :

> निःस्वो वष्टि शतं शतीवशशतं लक्षं सहस्राधिपः
> लक्षेशः क्षितिराजतां क्षितिपतिश्चक्रेशतां वाञ्छति।
> चक्रेशः सुरराजतां सुरपतिर्ब्रह्मास्पदं वाञ्छति,
> ब्रह्मा विष्णुपदं हरिः शिवपदं तृष्णावधिं को गतः॥

अष्टरत्नम्, ६

अर्थात्—जो सर्वथा धनहीन है वह सौ रुपये की तृष्णा करता है, सौ वाला एक हज़ार की, एक हज़ार वाला लाख की, लखपति राजा बनने की, राजा चक्रवर्ती सम्राट् बनने की, चक्रवर्ती देवताओं का राजा इन्द्र बनने की, इन्द्र ब्रह्मा के स्थान को पाने की, ब्रह्मा विष्णु के पद को पाने की और विष्णु शिव पद को प्राप्त करने की तृष्णा से व्याकुल रहते हैं। तृष्णा की सीमा को आज तक किसने पार किया है ?

यहां तक कि :

> बलिभिर्मुखमाक्रान्तं पलितैरंकितं शिरः।
> गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते॥

भर्तृहरिसुभाषितसंग्रहः, १५६

अर्थात्—वृद्धावस्था में मुख पर झुर्रियां पड़ जाती हैं, सिर के बाल सफेद हो जाते हैं और शरीर के सारे अंग शिथिल पड़ जाते हैं किन्तु अकेली तृष्णा ही नवयुवति बनी रहती है।

तृष्णा की सीमा जैसा कि ऊपर कहा गया है असीम है। धन के अतिरिक्त, स्त्री की तृष्णा, पुत्र की तृष्णा, पौत्र की तृष्णा, विषयों

के उपभोग की तृष्णा, अलभ्य वस्तु को पाने की तृष्णा, काम की तृष्णा, नाम की तृष्णा, पृथ्वी की तृष्णा, कीर्ति की तृष्णा, आदि तृष्णा का क्षेत्र बहुत विशाल है। उक्त सभी प्रकार की तृष्णाएं कर्मबन्ध का कारण हैं और कर्मबन्ध की परिणति दुःख में होती है। तृष्णा का सहायक, पोषक और मूलभूत कारण मोह तो होता ही है। मोह से उत्पन्न इस तृष्णाजन्य दुःख का अन्त कैसे करना चाहिये इसके लिये शास्त्रकार कहते हैं :

दुक्खं हयं जस्स न होई मोहो,
मोहो हओ जस्स न होई तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होई लोहो,
लोहो हओ जस्स ण किंचणाइं ॥

उत्तराध्ययन सूत्रम्, ३२।८

अर्थात्—जो मोह से मुक्त हो जाता है, उसका दुःख भी नष्ट हो जाता है। जो तृष्णा से मुक्ति पा लेता है उसका मोह नष्ट हो जाता है। जिसको लोभ नहीं होता, उसकी तृष्णा नष्ट हो जाती है और जो सर्वथा परिग्रह रहित है उसका लोभ नष्ट हो जाता है।

उपर्युक्त शास्त्र वचन से यह स्पष्ट है कि तृष्णा के नाश के लिये लोभ का अभाव आवश्यक है और लोभ के अभाव के लिये परिग्रह का त्याग आवश्यक है। यह परिग्रह क्या है ?

मूर्च्छा परिग्रहः।

तत्वार्थसूत्रम्, ७।१२

पदार्थों के प्रति आसक्ति रखना मूर्छा है।

यह मेरी पत्नी है, यह मेरा पुत्र है, यह आसक्ति परिग्रह ही तो है। यह परिग्रह :

आरंभ पूर्वको परिग्रहः।

सूत्रकृतांगचूर्णि, १।२।२

हिंसा को जन्म देने वाला है, हिंसा से कर्मबन्ध होता है और कर्मबन्ध का परिणाम दुःख है।

सारांश यह कि दुःख की मूल कड़ी मोह की भावना है। इसीलिये

मैंने प्रवचन के प्रारम्भ में कहा था कि संसार के समस्त दुःख मोह विकार से उत्पन्न होते हैं।

इस मोह की परिभाषा शास्त्रकारों ने—

मोहो विण्णाण विवज्जासो ।

निसीथचूर्णि, २६

इस प्रकार की है। अर्थात्—विवेक के अभाव को ही मोह कहते हैं। व्यक्ति अविवेक के कारण ही पुत्र, दारा, भाई, बन्धु आदि के मोहजाल में बन्धा हुआ अनेक प्रकार के दुःख भोग रहा है। ममता का मन पर आवरण इतना गाढ़ा होता है कि वह अपनी ममता के पात्र जीवों के बिना अपना जीवन निस्सार समझता है और अपने जीवन की सफलता उनकी ममता को आत्मसात करना ही समझता है। वास्तव में यह उसकी अज्ञानता है, भूल है और विवेकहीनता है। यहां संसार में कोई किसी का नहीं है, जीव अकेला ही आता है और अकेला ही चला जाता है। न कोई उसके साथ आने वाला है और न ही उसके साथ कोई जाने वाला है। दुःख का कारण ममता कैसे बन जाती है, इस प्रसंग पर मुझे एक कहानी स्मरण हो आई है :

"प्राचीन युग में किसी नगर में एक सेठ रहते थे जिनके पास सम्पत्ति तो पर्याप्त थी किन्तु उस सम्पत्ति का भविष्य में उपभोग करने वाले पुत्र का अभाव था। उन्होंने अनेक देवी-देवताओं की मनौतिया मानी थीं किन्तु उनकी इच्छा सफल नहीं हो पा रही थी। उनके नगर मे बाहर का एक प्रसिद्ध ज्योतिषी आ गया। सेठजी उसकी सेवा में उपस्थित हुए और दक्षिणा देकर अपने पुत्र के अभाव के दुःख को व्यक्त किया। ज्योतिषी ने भविष्यवाणी करते हुए कहा :

'सेठजी ! पुत्र का योग तो आपके यहां है किन्तु वह उत्पन्न होकर मृत्यु को प्राप्त होगा'।

'तो क्या उसकी जीवन रक्षा का कोई उपाय नही है' ?

सेठ साहब ने बड़ी उत्कण्ठा से पूछा।

'हां है, यदि तुम बारह वर्ष तक उसका मुंह न देखो तो वह जीवित रह सकता है'।

'मैं बारह वर्ष के लिये व्यापार निमित्त कहीं बाहर चला जाऊंगा'।

सेठ साहब ने सुख का श्वास लेते हुए उत्तर दिया।

कुछ ही दिनों में सेठानी गर्भवती हो गई। दम्पति हर्ष से फूले न समाये। जब प्रसव का समय आया तो सेठ साहब पत्नी की सारी घर पर व्यवस्था करके व्यापार के लिये दिसावर को चल दिये। उनके जाने के कुछ दिन बाद ही पुत्र का जन्म हुआ। सेठ साहब को दिसावर में पुत्र-जन्म का शुभसमाचार भेज दिया गया। सेठ साहब उल्लास से भर गये इस चिरकांक्षित शुभ समाचार से। समय आगे बढ़ता गया। सेठ साहब दुगने उत्साह से व्यापार के काम मे जुट गये और उन्होंने बहुत धन कमाया। घर से पत्नी और पुत्र की कुशलता कामना के समाचार मिलते रहते थे। समय को बीतते क्या लगता है, बारह वर्ष व्यतीत हो गये और लडका मा की ममता की छत्रछाया में पलता हुआ बड़ा हो गया। अब सेठानी बड़ी बेचैन रहती थी सेठ साहब की प्रतीक्षा में। वह चाहती थी कि वे शीघ्र ही आकर पुत्रमुख दर्शन के सौभाग्य को प्राप्त करे। सेठ साहब भी पुत्रमुख देखने के लिये तरस रहे थे किन्तु व्यापार का जाल इतना उलझा हुआ था कि उसे सुलझाना उनके लिये कठिन हो रहा था। इसी उलझन में उनको बारह वर्ष से छै मास और अधिक लग गये। इधर कुछ दिनो से सेठ साहब का कोई पत्र नही था। वह कई बार उन्हे लिख चुकी थी कि शीघ्रातिशीघ्र घर आयें। आखिर निराश होकर उसने सोचा 'अब तो मेरा बेटा बड़ा हो गया है और समझदार भी है, क्यो न इसको साथ लेकर मैं ही सेठ साहब के पास पहुंच जाऊ'? वह अपने बेटे को साथ लेकर जहां उसके पिता रहते थे, उस नगर को चलदी और घर की देखरेख नौकरों पर छोड़ दी।

उधर सेठ साहब ने सोचा, 'अब पत्र डालने की क्या आवश्यकता है। मैं सीधा घर को ही चल देता हूं जिससे जल्दी से जल्दी अपने पुत्र के मुख को देख सकू'। 'सेठ साहब भी चल दिये। कर्म गति बड़ी विचित्र होती है। काफी मार्ग तय कर चुके थे। सूर्य अस्त होने को था, वे मार्ग में आने वाले एक नगर की धर्मशाला के कमरे मे ठहर गये। उनके पास वाले कमरे मे उनकी पत्नी भी अपने पुत्र के साथ पहले ही पहुंच कर विश्राम कर रही थी। हेमन्त ऋतु थी, बड़े ही कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। कर्म की गति बड़ी बलवान है। अचानक ही लड़के को सर्दी लग गई और नमोनिया हो गया, बड़ी परेशानी हुई सेठानी को, वहां

कौन उसकी सहायता करने वाला था ? कौन किसी वैद्य को बुलाकर लाने वाला था । लड़का तड़प-तड़प कर मृत्यु का ग्रास बना । सेठानी ज़ोर-ज़ोर से विलाप करने लगी ।

पास वाले कमरे में सेठ साहब पड़े-पड़े सोच रहे थे, 'यह क्या मुसीबत मेरे साथ वाले कमरे में ठहरी हुई है । इस स्त्री के रोने से यह स्पष्ट है कि इसका लड़का मर गया है, किन्तु मर गया तो क्या, मरना तो संसार में सभी ने है । इसके रोने से कोई वह वापिस तो आ नहीं जायेगा । व्यर्थ में चिल्ला-चिल्लाकर मेरी भी नींद हराम कर रही है । यात्रा से थक कर शरीर चूर-चूर हो रहा है, इच्छा थी कि यहां रात को विश्रान्ति पाकर कल पुन: घर चलने के लिये शक्ति प्राप्त करूंगा किन्तु यह चुड़ैल पता नही रोगी लड़के को लेकर कहां से यहां मुझे दुखी करने के लिये आ टपकी । जाता हू और जाकर इसे डांट पिलाता हूं कि वह इस प्रकार चिल्ला-चिल्ला कर दूसरों की नीद खराब न करे' ।

हमारे देश में बहुत से प्रान्तों मे यह परम्परागत रीति है कि जब किसी की मृत्यु हो जाती है तो स्त्रिया रोती भी हैं और रोने के साथ-साथ विलाप भी करती हैं । विलाप का अर्थ है कि मृतक से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओ को और मृतक के गुणों को वाणी द्वारा व्यक्त भी करती हैं । सेठानी के विलाप के ये शब्द, 'यदि मैं तुम्हे लेकर तेरे पिता से मिलने के लिये और तुम्हें मिलाने के लिये घर से न चलती तो क्यों तुम्हें सरदी लगती, क्यों तुम्हें नमोनिया होता और क्यों तुम्हारी यह अकाल में मृत्यु होती' ? सेठ साहब के कानों में ये शब्द उस समय पड़े जब वे उस रोती हुई स्त्री को मध्य रात्रि में डांटने के लिये अपने कमरे से अभी-अभी बाहर निकले थे । विलाप करती हुई स्त्री के शब्द सेठजी की जीवनी से मिलते-जुलते थे । सेठ साहब की स्वार्थ की भावना करुणा में परिवर्तित होने लगी । उन्होंने शीघ्र ही जाकर जब पास के कमरे में प्रवेश किया तो वे एकदम सहम गये, घबराये और व्याकुल हो गये यह देखकर कि वह उन्हीं की सेठानी थी और मरने वाला प्राणी उन्हीं का सुपुत्र था । अब तक तो उनकी पत्नी रो रही थी, अब वे भी बिलख-बिलख कर रोने लगे । 'यह मेरी पत्नी है और यह मेरा पुत्र है' इस मोह-ममता की भावना ने उन्हें व्याकुल

कर दिया, बेचैन कर दिया, और अत्यन्त दुखी बना दिया। जब तक 'मैं और मेरी' की भावना नही थी तब तक सेठजी आपत्तिग्रस्त पड़ौसिन को गाली दे रहे थे, उसे कोस रहे थे और बड़ी-बड़ी ज्ञान की बातें कर रहे थे किन्तु जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि 'यह तो मेरी ही पत्नी है और मेरा ही पुत्र है' तो वे दुखी हो गये। इस कहानी से स्पष्ट हो जाता है कि यह मेरे का ममत्व या मोह ही वास्तव में आत्मा के दुःख का कारण है।

यदि हम यह कह दें कि मोह संसार का ही दूसरा नाम है तो कोई असंगत बात नही होगी। संसार तभी तक है जब तक मोह है। जब मोह से निवृत्ति हो जायेगी, तब संसार से भी निवृत्ति हो जायेगी। जब तक मोह है तब तक कर्मों का बन्धन निरन्तर चलता रहेगा और कर्मों के परिणाम दुःख का प्रादुर्भाव भी समाप्त नहीं होगा। अतएव दुःखो के मूल कारण मोह को, नष्ट करना होगा। मोह का नाश विवेक द्वारा ही संभव है, अन्यथा नहीं। मोहग्रस्त व्यक्ति को सोचना चाहिये कि—

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
तवानन्तानि जातानि, कस्य ते कस्य वा भवान्॥

सुभाषितावलि, ३२।८८

अर्थात्—जन्म जन्मान्तरों की परम्परा में अब तक हजारों तेरे माता पिता हो चुके है, और सैकडों पुत्र और पत्नियां हो चुकी है। इतने हो चुके है कि जिनको अनन्त की सख्या दी जा सकती है। बताओ, किसकी ममता तुम्हारे प्रति स्थिर रही है और तुम्हारी ममता किनके प्रति स्थिर रह सकती है?

और भी—

रात्रिः सैव पुनः स एव दिवसो मत्वा मुधा जन्तवो—
धावन्त्युद्यमिनस्तथैव निभृतप्रारब्धतत्तत् क्रियाः।
व्यापारैः पुनरुक्तभुक्तविषयैरेवंविधेनामुना,
संसारेण कदर्थिताः कथमहो मोहान्न लज्जामहे॥

भर्तृहरि, ३, ४५

अर्थात्—वे ही रातें, वे ही दिन बार-बार आते हैं, कोई उनमें

विशिष्टता नहीं, आकर्षण नहीं, इस बात को हम अच्छी प्रकार जानते हुए भी पुरुषार्थी होने का दंभ करते हुए निरन्तर अनेक प्रकार के कर्मों को आरम्भ करते हैं और उनके संपादन में निरत हैं। बार-बार उन्हीं विषयों को भोगकर परिणामस्वरूप अनेक प्रकार के सांसारिक दुःखों से अभिभूत होकर भी मोह के कारण हमें तनिक भी लज्जा नहीं आती।

इस प्रकार की विवेक की चिन्तन धारा से ही हम मोह से मुक्ति पाकर दुःखों का अन्त कर सकते है।

४. स्थान : किशनगढ़, विषय : कर्ता और भोक्ता : संवत् २०१२ में, किशनगढ की भूतपूर्व स्टेट में चातुर्मास के पवित्र अवसर पर स्वामी चान्दमलजी महाराज द्वारा दिये गये प्रवचन का सार।

'जीव को संसार मे कौन दुःख देता है और सुखी बनाता है' इस पर व्याख्यान देते हुए मुनि श्री चान्दमलजी महाराज ने कहा था—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ॥

उत्तराध्ययन, २०।३७

अर्थात्—मानव जीवन में आने वाले सुखों का और दुःखों का करने वाला या लाने वाला और उन दुःखों-सुखों को भोगने वाला स्वयं आत्मा ही है। यदि आत्मा सदाचार में प्रवृत्त है तो मित्र के समान है और यदि दुराचार में प्रवृत्त है तो वह अपना शत्रु स्वयं ही है।

भ्रान्ति की भावना में भटकने वाले संसार के लोग मन्दिरों में, मस्जिदों में, गिरजाघरों में, गुरुद्वारों में, महापुरुषों की और महर्षियों की समाधियों पर और तीर्थों पर जाकर सुख की याचना करते हैं और दुःख के विनाश की प्रार्थना करते हैं। उक्त सभी स्थानों पर न कोई सुख को बरसाने वाला है और न ही दुःख को निवारण करने वाला है। वस्तु तो वास्तव में अपने अन्दर ही विद्यमान है किन्तु उसकी खोज की जा रही है, बाहर के संसार में। खोज करने वाला जीव स्वयं ही सुख का भी कारण है और दुःख का भी किन्तु अज्ञान के आवरण के कारण वह स्वयं के स्वरूप को देख नहीं पा रहा है। जैसे दर्पण पर धूल पड़ने से दर्पण की प्रतिबिम्बित करने वाली शक्ति या चमक के सद्भाव में भी दर्पण देखने वाले की छाया दिखाई नहीं देती,

इसी प्रकार जीव पर कर्मों की धूल जमने के कारण जीव अपने स्वरूप को देख नहीं सकता। यही कारण है कि वह अपने द्वारा ही किये गये पाप कर्म के परिणाम दुःख को उत्पन्न करता है और फिर उसके भोगने के लिये विवश हो जाता है। यहा यह बात ध्यान रखने योग्य है कि जीव कर्मों का उपार्जन करने में तो स्वतन्त्र है किन्तु उनके फल को भोगने में परतन्त्र है। जब जीव या आत्मा की वृत्ति शुद्ध होती है तो वह शुभ कर्मों की ओर प्रवृत्त होता है और परिणाम-स्वरूप सुख प्राप्त करता है। अपने भाग्य का उत्थान अथवा अपने भाग्य का पतन, दोनों का उत्तरदायी वही है। उसका भाग्य विधाता उससे अन्य कोई शक्ति नहीं है, वह स्वयं है। जो आत्मा हिंसा के दुष्कर्म में प्रवृत्त है: असत्य भाषण में निरत है, चौर्य कर्म करता है; कामी है, दुश्चरित्र है: परिग्रह के लिये घोर से घोर पाप कर्म करता है; इन्द्रियों के विषयों का दास है, क्रोधादि कषायों से आक्रान्त है, मिथ्याज्ञान में चूर है, जड़ता में भरपूर है और सत्कर्मों से दूर है, वह जो कर्म भी करेगा उसका परिणाम दुःख होगा। जो आत्मा पंच महाव्रतों का पालन करता है, मन सहित सब इन्द्रियों पर जिसका नियन्त्रण है, क्रोधादि कषायों के आक्रमण को जिसने विफल बना दिया है, सम्यग्ज्ञान का जिसके पास प्रकाश है, विवेक का जिसके पास आभास है और सत्कर्मों के सौरभ का जिसमे उल्लास है, वह जो कर्म भी करेगा उसका परिणाम सुख होगा, आनन्द होगा और शान्ति होगी। आत्मा का यह आनन्द सकारण है। वास्तव में दुःख आत्मा का स्वभाव नही है। दुःख तो कर्मबन्ध है। यह कर्मों का क्षय करके ही मिटाया जा सकता है। कर्मों का सम्बन्ध जीव के साथ संमोग जन्य है, बाह्य है और कृत्रिम है। वह आत्मा का स्वरूप नही है। शास्त्रकार कहते हैं:

एगो में सासदो अप्पा, णाणदंसणलक्खणो।
सेरा में बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा॥

नियमसार, ९९

अर्थात्—ज्ञानदर्शन स्वरूप मेरा आत्मा ही शाश्वत तत्व है, इससे भिन्न जितने भी—राग, द्वेष, कर्म शरीर आदि भाव है, वे सब संयोग-जन्य बाह्य भाव है, मेरे नहीं हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि आत्मा ज्ञानदर्शन-स्वरूप है और राग द्वेषादि भाव उसके अपने नहीं हैं, तो वह उन भावों को अपने पास क्यों आने देता है, उनसे दूर ही क्यों नहीं रहता। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए शास्त्रकार कहते हैं :

जीवो परिणमदि जदा,
सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो,
हवदि हि परिणामसब्भावो ॥

प्रवचनसार, १।९

अर्थात्—आत्मा परिणमन स्वभाव वाला है, इसलिये जब वह शुभ भाव में परिणत होता है तो शुभ हो जाता है और जब अशुभ भाव में परिणत होता है तब अशुभ हो जाता है। जब वह शुद्ध भाव में परिणत होता है तब वह शुद्ध होता है।

अशुभकर्म या पाप कर्म में निरत आत्मा दु.ख को जन्म देता है और शुभ या सत्कर्म करने वाला आत्मा सुख देने वाली परिस्थितियां उत्पन्न करता है। आगमकार इस भाव को व्यक्त करते हुए कहते हैं :

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणु, अप्पा मे नंदणं वणं।

उत्तराध्ययन, २०।३६

अर्थात्—पाप में प्रवृत्त होने वाली मेरी आत्मा ही वैतरणी नदी और कूट-शाल्मली वृक्ष के समान दुःख देने वाली है। यही मेरी आत्मा जब सत्कर्म में प्रवृत्त होती है तो कामधेनू के समान सब इच्छाएं पूर्ण करने वाली और नन्दनवन के समान आनन्द और सुख देने वाली है।

द्वैतवादी वेदान्त दर्शन के मत में तो ज्ञानाधिकरण आत्मा के दो भेद स्वीकार किये हैं : जीवात्मा और परमात्मा। वहां जीवात्मा पापकर्म में प्रवृत्त होता है, परमात्मा नही किन्तु अद्वैतवादी वेदान्त दर्शन में तो जीव को भी "ब्रह्म" या परमात्मा माना है। जैन दर्शन की मान्यता अद्वैतवादियों से कुछ मिलती-जुलती है। हम पहले इस सत्य का प्रतिपादन करके आये हैं कि आत्मा स्वयं में शुद्ध, बुद्ध और

निरंजन स्वरूप है किन्तु आत्मा की परिणमन की प्रवृत्ति के कारण वह अशुभ कर्म में और शुभ कर्म में, दोनों में प्रवृत्त हो जाता है। इस परिणमन की प्रवृत्ति के अतिरिक्त जैन दर्शन में आत्मा के प्रकारों की मान्यता का भी सिद्धान्त विद्यमान है। यह प्रकार-मान्यता द्वैतवादी एव अद्वैतवादी वेदान्त दर्शन के दोनों सिद्धान्तों से भिन्न प्रकार की है। जैन शास्त्र के अनुसार :

तिपयारो सो अप्पा, पर-मन्तर बाहिरो दु हेऊणं।

मोक्षपाहुड़, ४

अर्थात्---आत्मा के तीन प्रकार हैं : परमात्मा, अन्तरात्मा और बहिरात्मा।

अन्तर-बहिरजप्पे, जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।
जप्पेसु जो ण वट्टइ, सो उच्चई अन्तरंगप्पा॥

नियमसार, १५०

जो अन्दर एवं बाहिर के जल्प-वचन विकल्प में रहता है, वह बहिरात्मा है, जो किसी भी जल्प मे नही रहता, वह अन्तरात्मा कहलाता है। इन तीनों में से जो बहिरात्मा है, उसी की प्रवृत्ति दुष्कर्मों की ओर होती है, इसलिये उसे हेय माना है। विवेक के उपक्रम के अनुसार शास्त्र विहित साधना के द्वारा साधक को बहिरात्मा से अन्तरात्मा की ओर, और अन्तरात्मा से परमात्मा की ओर अग्रसर होना चाहिये।

इस आध्यात्मिक विकास की पद्धति पर उत्तरोत्तर प्रगतिशील तभी बना जा सकता है जब जीव विवेक द्वारा यह समझने लगे कि :

अन्नो जीवो, अन्नं सरीरं।

सूत्रकृतांग, २।१।९

अर्थात्—वह (जीव) और है और उसका शरीर और है। दोनों भिन्न पदार्थ हैं, एक नही।

अन्ने खलु कामभोगा, अन्नो अहमंसि।

वही० २।१।१३

अर्थात्—शब्द, रस, रूप, गन्ध, स्पर्श आदि कामभोग के पदार्थ और हैं और आत्मा और है।

इस प्रकार की विवेकपूर्ण भावना से यदि जीव अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानने में सफल हो जाता है, तो उसका सांसारिक दुःखों से छुटकारा हो जाता है अन्यथा :

पर अप्पा अउमर्णाहि तहु संसार भमेई।

योगसार, २२

यदि वह संसार के पदार्थों को आत्मस्वरूप समझता रहा तो अनन्त काल तक संसार में जन्म-मरण के चक्कर में घूमता रहेगा और नारकीय दुःख भोगता रहेगा। यही कारण है कि जैनागम दुःख ग्रस्त मानवों को जागृत करने के लिये बार-बार कह रहे हैं—

पुरिसा! अप्पाणमेव अभिणिगिज्झ,
एवं दुक्खा पमुच्चसि।

आचारांग, १।३।३

हे मानव, तुम अपने आप को ही संयत करो, स्वयं के संयमन से ही तुम्हारी दुःखों से मुक्ति हो सकेगी।

५. स्थान : अमरावती, विषय : मोक्षमार्ग : संवत् २०१७ में अमरावती नगर में, चातुर्मास के शुभ समय में "सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग।"—इस पर अपना प्रवचन देते हुए स्वामीजी चान्दमलजी महाराज साहब ने फरमाया था :

"नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुप्पत्ता जीवा गच्छंति सोग्गइं॥"

उत्तराध्ययन सूत्र, २८।३

अर्थात्—ज्ञान, दर्शन चारित्र और तप—इनके मार्ग पर जो चलते है या इनका जो आचरण करते हैं वे जीव ही मोक्ष की प्राप्ति करने में समर्थ होते हैं। इसका कारण बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं :

"ना दंसणिस्स नाणं,
नाणेण विना न हुंति चरणगुणा।

अगुणिस्स नत्थि मोक्खो,
नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥"

वही०, २८।३०

अर्थात्—सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान प्राप्त नही होता, ज्ञान के अभाव में चारित्र के गुणों की उत्पत्ति नही होती, गुणों के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति संभव नही और मोक्ष के अभाव मे निर्वाण-शाश्वत् परमानन्द—प्राप्त नही हो सकता।

जिसके द्वारा तत्व का यथार्थ बोध होता है वह सम्यग् ज्ञान कहलाता है। तत्वार्थ का यथार्थ बोध होने के पश्चात् अटूट श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। जिस धार्मिक आचार-संहिता के द्वारा अन्तःकरण की प्रवृत्तियो पर नियंत्रण रखा जाता है और जीवन की सर्वतोमुखी विकास की योजना को कार्यान्वित किया जाता है, उसे सम्यक्चारित्र कहते हैं। इसे हम जिनशासन की परम पावन त्रिवेणी कह सकते है, जिसके संगम पर स्नान करने से साधक सर्वथा निर्विकार बन सकता है। इसी भाव को आगम मे इस प्रकार व्यक्त किया गया है :

"नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाई, तवेण परिसुज्झई ॥"

उत्तराध्ययन, २८।३५

अर्थात्—ज्ञान से भावों—पदार्थों का सम्यग् बोध होता है, दर्शन से सम्यग्बोध द्वारा जाने हुए पदार्थों में अटूट श्रद्धा पैदा होती है, सम्यक्चारित्र से आने वाले कर्मों का निरोध होता है और तप के द्वारा आत्मा शुद्ध हो जाती है।

मोक्षपथ पर आगे बढ़ने वाले साधक के लिये आत्मशुद्धि अत्यावश्यक है।

यद्यपि जैनधर्म में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का अपना-अपना अलग-अलग महत्व है, अलग-अलग उपादेयता है, किन्तु सम्यग्दर्शन पर अधिक बल दिया गया है जिसकी झलक उत्तराध्ययन सूत्र के "नादंसणिस्स नाण"—इस चरण से मिलती है। यदि सम्यग्दर्शन नहीं है तो ज्ञान, अज्ञान में परिवर्तित हो जाता है और बड़ी से बड़ी साधना और अनुष्ठान मिथ्यात्व की क्रिया में बदल जाते हैं। साधक को भले ही कितनी ही ज्ञान की अनुभूति हो जाये

किन्तु यदि उसकी सहायक या उसको शक्ति देने वाली अटूट श्रद्धा या प्रतीति का अभाव है तो ज्ञान कदापि जीव का कल्याण करने वाला नहीं बन सकता। तात्विक दृष्टि से यदि देखा जाये तो ज्ञात होता है कि जीव के स्वस्थिति से गिरने का और परस्थिति में पतन का मुख्य कारण ही सम्यग्दर्शन का अभाव है। सम्यक्त्व का ही दूसरा नाम श्रद्धा है :

"यथार्थतत्वश्रद्धा सम्यक्त्वम्।"

जैनसिद्धान्तदीपिका, ५।३

अर्थात्—जीवादि तत्वों की यथार्थ श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन है।

"भावेण सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं।"

उत्तराध्ययन, २८।१५

जब तक जीव में श्रद्धा का अभाव है, वह न तो अपने वास्तविक स्वरूप का ही चिन्तन कर सकता है, न ही उसको अपनी लौकिक और धार्मिक मर्यादाओं का, अधिकारों का, और विवेकपूर्ण आचारों का ही ज्ञान हो सकता है और न ही वह जगत् के अनन्तानन्त जड़ एवं चेतन द्रव्यों के अस्तित्व पर ही विश्वास करने में समर्थ हो सकता है। श्रद्धाहीन, इस प्रकार के मिथ्यादर्शी आत्मा से संसार के और अपने कल्याण की क्या आशा की जा सकती है?

सम्यग्ज्ञान के लिये जितना महत्व सम्यग्दर्शन का है उतना ही सम्यक्चारित्र के लिए भी सम्यग्दर्शन का महत्व है।

"नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं।"

उत्तराध्ययन, २८।२९

अर्थात्—सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यक्चारित्र का कोई महत्व नही है।

साधक की बड़ी से बड़ी साधना और बडा से बड़ा त्याग—सब व्यर्थ हैं यदि वह मिथ्यादृष्टि से दूषित है। इस सत्य की पुष्टि करते हुए शास्त्रकार कहते हैं :

"कुणमाणो वि निवित्तिं,
परिच्चयंतोऽवि सयण-धण-भोए।

चित्तोऽवि वुहुस्स उरं,
मिच्छाविट्ठी न सिज्झई उ ॥"

आचारांगनिर्युक्ति, २२०

अर्थात्—निवृत्ति की साधना में निरत साधक भले ही अपने प्यारे सगे-संबंधियों को, धन सम्पत्ति के ऐश्वर्य को और विविध प्रकार के भोग-विलासो का परित्याग कर दे; अपने शरीर पर आने वाले अनेक कष्टों को सहन करले, किन्तु यदि वह मिथ्या दृष्टि है, उसकी श्रद्धा विपरीत-पथ-गामिनी है, तो वह कदापि अपनी साधना में सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता :

"दंसणवओ हि सफलाणि,
हुंति तवनाणचरणाइं ।

आचारांगनिर्युक्ति, २३१

अर्थात्—चाहे कितनी ही महती तपश्चर्या हो, कितना ही गभीर ज्ञान हो और कितना ही ऊंचा चारित्रबल हो किन्तु सबकी सफलता सम्यग्दर्शन में ही निहित है।

सम्यग्दृष्टि द्वारा किया गया तपश्चरण, सयम, साधना और चारित्र-पालन ही आत्मा के कर्मों की निर्जरा मे समर्थ होते है। इस भाव को समयसार की गाथा मे इस प्रकार व्यक्त किया गया है :

"जं कुणदि सम्मदिट्ठी, तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ।"

समयसार, १६३

सम्यग्दर्शन की महिमा का गान करते हुए शास्त्र का तो यहां तक कथन है :

"जीवविमुक्को सवओ, दंसणमुक्को य होई चल सवओ" ।
सवओ लोयअपुज्जो, लोउत्तरयम्मि चल सवओ" ॥

भावपाहुड़, १४३

अर्थात्—जीव से रहित शरीर शव-मुर्दा है। इसी प्रकार सम्यग्-दर्शन से विहीन व्यक्ति चलता-फिरता शव है। जिस प्रकार शव का लोक में अनादर होता है, उसे घृणा की दृष्टि से देखा जाता है ठीक इसी तरह उस चल शव का धर्म-साधना के क्षेत्र में भी अनादर होता है।

सम्यग्दृष्टि के लिए समयसार की तो यहां तक उक्ति है :

"जह विसमुवभुंजंतो, वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पुग्गलकम्मस्सुदयं, तह भुंजदि णेव बज्झए णाणी॥"

समयसार, १९५

अर्थात्—जिस प्रकार कोई वैद्य औषधि के रूप में विष खाता हुआ भी विष के सेवन से मृत्यु को प्राप्त नहीं होता, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा कर्मोदय के कारण सुख-दुःख का अनुभव करते हुए भी उससे बद्ध नहीं होता।

संभवतः सम्यग्ज्ञान की इसी महानता को और उपादेयता को ध्यान में रखकर शास्त्र में कहा है :

"दंसणभट्ठो भट्ठो, दंसणभट्ठस्स नत्थि निव्वाणं।"

भक्तप्रतिज्ञा, ६६

अर्थात्—जो सम्यग्दृष्टि दर्शन से भ्रष्ट हो गया है वही वास्तव में भ्रष्ट है, पतित है, क्योंकि दर्शन से भ्रष्ट जीव का मोक्ष नही हो सकता।

सम्यग्दृष्टि आत्मा कदाग्रह से, सकीर्णता से, हठ से, और अहंकार से रहित होता है। वह तो सत्य का अनुयायी होता है, सबसे उच्च स्थान सत्य को देता है और सत्य की ही आराधना करता है और सत्य का ही आचरण करता है। कोई भी संसार की शक्ति, चाहे वह कितनी ही भयानक और यातनापूर्ण क्यों न हो, उसे सत्य के मार्ग से विचलित नही कर सकती। वह तो सत्य को भगवान् मानता है। उसे तो आत्म-स्वरूप की और आत्मा के सहज आनन्द की अनुभूति होने लगती है और इस कारण वह संसार के क्षणिक सुखदायी विषयों को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगता है। योग शास्त्र में सम्यक्त्व के पांच भूषण माने गये हैं, जो सम्यक्त्व को शक्ति प्रदान करते हैं और उसकी शोभा को बढ़ाते हैं। वे हैं :

"स्थैर्यं प्रभावना भक्तिः, कौशलं जिनशासने।
तीर्थसेवा च पंचापि, भूषणानि प्रचक्षते॥"

योगशास्त्र, २।१६

(१) धर्म की स्थिरता, (२) धर्म की प्रभावना, प्रवचनादि द्वारा

उसका जनता में प्रचार, (३) जिनशासन में दृढ़ श्रद्धा, (४) अज्ञानान्धकार में भटकने वाले आत्माओं को धर्म की महानता समझाने की निपुणता और (५) चार तीर्थों—साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका—की सेवा, ये पांच सम्यक्त्व के भूषण कहे गये हैं।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन आध्यात्मिक विकास एवं मोक्ष की साधना का मूल मंत्र है किन्तु इसका वास्तविक स्वरूप समझने के लिए इसके आठ-आठ अंगों को समझना अत्यंत आवश्यक है। वे आठ अंग हैं :

"निस्संकिय-निक्कंखिय-निव्वितिगिच्छा-अमूढदिट्ठी य।
उववूह-थिरीकरणे-वच्छल्लपभावणे अट्ठ" ॥

उत्तराध्ययन सूत्र, २८।३१

अर्थात्—(१) निःशंकित, (२) निःकांक्षित, (३) निर्विचिकित्सा, (४) अमूढदृष्टित्व, (५) उपबृंहण, (६) स्थिरीकरण, (७) वात्सल्य, (८) प्रभावना—ये सम्यग्दर्शन के आठ अंग है।

१. **निःशंकित**—वीतराग और सर्वज्ञ के वचन कभी मिथ्या नहीं होते। मिथ्यात्व का कारण कषाय होते है, वे कषायों से रहित होते हैं। उनके वचनो में पूर्ण श्रद्धा रखना निःशंकित अंग है।

२. **निःकांक्षित**—प्रलोभन में पडकर दूसरे के मत की और संसार के सुखो की कांक्षा न करना—निःकांक्षित दूसरा अंग है।

३. **निर्विचिकित्सा**—सन्त जन शरीर को धारण करके भी वासना से मुक्त होते हैं। वे देह का संस्कार नही करते। उनके मैले शरीर को देख कर किसी प्रकार की ग्लानि न करना—निर्विचिकित्सा है।

४. **अमूढदृष्टित्व**—साधक अपनी प्रज्ञा को सर्वदा जागृत रखता है और स्वयं को कभी प्रमादग्रस्त नहीं होने देता, यही अमूढदृष्टित्व है।

५. **उपबृंहण**—जो व्यक्ति विशेष ज्ञानवान् हैं, धर्म का पालन करने वाले है, संयम की आराधना करने वाले हैं, अनेक गुणों से संपन्न हैं, समाज, राष्ट्र की सेवा करने वाले हैं, प्रशंसा द्वारा उनके उत्साह को बढ़ाना और उनको सब प्रकार से सहयोग प्रदान करना—उपबृंहण नाम का अंग है।

६. **स्थिरीकरण**—कोई साधक प्रलोभन के कारण या किसी कष्ट विशेष के कारण यदि अपने सम्यक्त्व के मार्ग से गिरता हुआ मिले तो उसे पुनः धर्म में स्थिर करना—स्थिरीकरण है।

७. वात्सल्य—संसार में यों तो अनेक प्रकार के रिश्ते हैं, नाते हैं किन्तु स्वधर्मीपन का नाता सबसे ऊंचा है। ऐसा जानकर अपने स्वधर्मी भाई-बहन के साथ वैसे ही स्नेह रखना जैसे गाय अपने बछड़े के साथ रखती है।

८. प्रभावना—वीतराग भगवान् द्वारा प्रतिपादित और निर्दिष्ट धर्म के प्रभाव को फैलाना, उसका प्रचार करना, उसकी महानता को, उसके गुणों को और उसकी विशिष्टता की छाप को लोगों के मनपर अंकित करना—प्रभावना नाम का आठवां सम्यक्त्व का अंग है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की दृढ़ता से, सम्यग्ज्ञान के आलोक से और सम्यक्चारित्र की चारुता से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

तत्वार्थाधिगम का सूत्र .

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥"

इसी सत्य की सार्थकता को सिद्ध करता है।

समाधि मरण

भवितव्यं भवत्येव कर्मणामीदृशी गतिः।

जो कुछ होना होता है वह हो कर ही रहता है, क्योंकि जीव के कर्मों की गति का विधान ही ऐसा है।

यह घटना सवत्-२०२५, (सन्-२५.१०.६८) कार्तिक सुदी चतुर्थी, शुक्रवार के दिन पौने पांच बजे की है। स्वामी जी श्री चांदमलजी महाराज बम्बई के विलेपारले स्थानक में बड़े आनंद से चल-फिर रहे थे कि अचानक ही उनका पैर फिसल गया और वे बाएं करवट फरश पर गिर पड़े। सहचर संतों ने शीघ्र ही उनकी सेवा में उपस्थित होकर उन्हें बिठाया और खड़े करने का भी प्रयत्न किया, किंतु बायां पैर शक्तिहीन होने से शरीर के भार को सहन नही कर सका। समीपस्थ पाट पर उन्हें लेटा दिया गया और बायें हाथ को ऊंचा-नीचा करने से कोई विषमता ज्ञात नहीं हुई। पक्षाघात की शंका थी जिसका पहले भी एक बार संवत् २०२३ को अलसूर बाज़ार-बैंगलोर-के चातुर्मास में हल्का-सा आक्रमण हो चुका था। वाणी की अस्पष्टता से संदेह उत्पन्न हो गया। डाक्टर वाड़ीलाल भाई, जो कि स्थानकवासी श्रावक भी थे, को बुलाया गया। सब प्रकार से स्वास्थ्य

संबंधी परीक्षण करने के पश्चात् डाक्टर साहब ने पक्षाघात न होने का अपना निर्णय दिया और कहा कि चक्कर आ जाने के कारण संभवतः मस्तिष्क की कोई नस प्रभावित हो गई है, इसी कारण यह विषमता प्रतीत हो रही है। एक दूसरे डाक्टर ने सेहत की विषमता का कारण हड्डी की चोट को बताया। उस समय मुनि श्री चान्दमल जी का रक्तचाप १७० था।

रात्रि का प्रथम चरण था। मुनि श्री चान्दमल जी ने प्रतिक्रमण लेटे-लेटे ही किया, नित्य का स्तोत्र-पाठ पूर्ववत् किये। अपना लेटना खलने लगा तो कहने लगे, "लोग कहते है कि मैं चलने फिरने में असमर्थ हूं। मुझे जरा खड़ा तो करो, मैं चल कर बताता हूं। मुझे शरीर में कही भी तो पीड़ा का अनुभव नही हो रहा है।" संतों ने डाक्टर द्वारा बताई गई हड्डी की चोट का जिक्र करके उन्हे लेटे रहने का ही परामर्श दिया। रात के दस बजे डाक्टर साहब पुनः पधारे। सब देखा गया। सब ठीक था किंतु रक्तचाप २०० था। बढ़ गया था। चौविहार सागारी संथारा के कारण, रात को और उपचार सभव नही था।

आगामी दिवस २६ अक्टूबर, १९६८ ज्ञानपंचमी, शनिवार को प्रातः डाक्टर के देखने पर पता चला कि रक्तचाप २१० तक बढ चुका था। उपचार आरंभ हुआ रक्तचाप, पक्षाघात और हड्डी की चोट—सभी की शांति के लिए इंजेक्शन, केप्सूल आदि दिये गये। पूर्व के पक्षाघात के समय जैसे अन्न का त्याग करवाया गया था वैसा अब भी किया गया।

कांदावाड़ी संघ के आग्रह से २७ अक्टूबर को हड्डी के परीक्षण के लिए एक्सरे की मशीन स्थानक में मगवाई गई। एक्सरे के पश्चात् डाक्टरों ने मुनि श्री चान्दमलजी को नानावटी होस्पिटल में प्रविष्ट कराने का परामर्श दिया। पहले तो सहचर संतों ने ऐसा करने से संकोच किया क्योंकि मुनि श्री की बिमारी की स्थिति गंभीर थी किंतु डाक्टरों और संघ की सम्मति को हितकर जानकर स्वीकृति दे दी। रुग्णावस्था में पाट पर लेटे-लेटे स्वामीजी श्री चांदमलजी महाराज ने अपने पास खड़े डाक्टरों से कहा :

"हमने ऐसा सुना है कि डाक्टर लोग 'जब तक श्वास तब तक आश'—इस उक्ति में विश्वास करते हुए रोगी का उसके अंतिम क्षण

तक इलाज करते हैं और रोगी को ऐसा कभी नहीं कहते हैं कि स्थिति निराशाजनक है। गृहस्थों के लिए तो इस प्रकार का उपचार चल सकता है किंतु हम तो साधु हैं, अंतिम श्वास से पहले तो अंतिम यात्रा के लिए कई प्रकार की धार्मिक तैयारियां भी करते हैं, कहीं हमें आप उनसे वंचित न कर देना।"

"स्वामीजी ! आप निश्चित रहें। अवसर होगा तब हम आपको सूचना दे देंगे।"

डाक्टरों ने स्वामीजी को विश्वास दिलाया।

२७ तारीख को, रविवार के दिन स्वामीजी को नानावटी अस्पताल में प्रविष्ट करा दिया गया। डाक्टरों द्वारा उपचार के घोरतम प्रयत्न करने पर भी जब स्वामीजी ने अपने में सुधार के लक्षण न देखे तो उन्होंने "संथारे" की इच्छा व्यक्त की किंतु डाक्टर अपने सिद्धांत को कहां छोड़ने वाले थे। स्वामीजी अपना अंतिम निर्णय कर चुके थे। उन्होंने अपनी अस्पष्ट भाषा में नवकार मंत्र, क्षमापना-पाठ आलोचना-पाठ, आहार-त्याग के पाठ और समाधि-पाठ को बारंबार पढ़ना आरंभ कर दिया था। उनका दायां हाथ ऊंचा उठा हुआ था जो निरतर माला पूर्ववत् फेर रहा था।

२६ तारीख को डाक्टरों ने स्थिति निराशाजनक बताई। काव्य-तीर्थ पंडित मुनि श्री जीतमलजी महाराज साहब, वर्तमान आचार्य-प्रवर ने सब की सहमति से स्वामीजी को संथारा पचखाने के लिए मुनि श्री लालचंदजी महाराज साहब को कहा। इस समय घाटकोपर, बंबई के प्रमुख श्रावक श्री शांतिलाल मकनजी शाह, जो कि स्वामीजी के परम श्रद्धालु श्रावक थे, उपस्थित थे। महामंदिर 'जोधपुर' के श्रावक-प्रमुख श्री शांतिलालजी धाडीवाल भी अकस्मात् इसी समय यहां पहुंच गये। अंधेरी, बंबई में चातुर्मास-स्थित महासतीजी भी दर्शनार्थ आई हुई थी। इन सब के अतिरिक्त और भी बहुत से श्रावक-श्राविकाएं उपस्थित थे। यह प्रातःकाल का समय था। चतुर्विध संघ की साक्षी से संथारा पचखाते हुए पंडित मुनि श्री लालचंदजी महाराज ने स्वामीजी से भावपूर्ण शब्दों में कहा :

"आपने अपने मन से तो शास्त्र विधि-विधान से युक्त संथारा पहले ही कर लिया है किन्तु अब हम आप से क्षमायाचना पूर्वक मूल-

गुण-उत्तरगुणों के आलोचना के सहित, तीन करण, तीन योग से अठारह पाप और चारों आहारों का आजीवन त्याग करने की प्रार्थना कर रहे हैं।"

ऐसा कह कर स्वामी जी को चौविहार संथारा पचखा दिया। स्वामी जी ने प्रत्येक विधि में अपनी स्वीकृति प्रकट की। यह विधि-विधान साढे आठ बजे के करीब सम्पन्न हुआ। स्वीमी जी को अस्पताल से सन्त स्थानक में ले आये। हाल में प्रविष्ट होते ही संथारा पूर्ण हो गया। लगभग दो ढाई घण्टे तक संथारा चला। उधर शरद् ऋतु का सूर्य आगे बढ़ रहा था—पहले मध्यान्ह की ओर, एवं फिर अपनी दैनिक आयु पूर्ण करके अस्ताचल की ओर। इधर शरद् ऋतु का चांद तैयारी कर रहा था और आगे बढ़ रहा था "पूनम का चांद" बनने के लिए।

तत्पश्चात् पण्डित मुनि श्री जीतमल जी महाराज, मुनि श्री लाल-चन्द जी महाराज, मुनि श्री शुभचन्द जी महाराज एवं मुनि श्री पार्श्वचन्द जी महाराज साहब ने जो कि दिवंगत स्वामी जी श्री चान्दमलजी महाराज के क्रमशः लघु गुरुभ्राता, भ्रातृज्य शिष्य, एव शिष्यद्वय थे उन्होंने संघ के समक्ष स्वामीजी के पार्थिव शरीर को वोसिराने की विधि की और परिनिर्वाण-र्वतिक काउस्सग किया जिसे चार लोगस्स के पाठ से समाप्त किया।

सघ द्वारा दिये गये तारो से, किये गये टेलिफोनों के परिणामस्वरूप भारत के दूर-दूर नगरों से श्रावक-श्राविकाएं वायुयानों द्वारा, कारों द्वारा और रेलगाड़ियों द्वारा पहुंचने लगे। सहस्रों धर्मनिष्ठ, श्रद्धालु भक्त, एकत्रित होने लग गये। अन्तिम यात्रा के पूर्व बम्बई की प्रथा के अनुसार अन्तिम विधि-विधान की प्रत्येक क्रिया पर बोली लगाई गई। स्वामीजी ने पचहत्तर वर्ष की आयु में इहलोक यात्रा पूरी की थी उसी के अनुरूप बोली से पचत्तर हजार की धनराशि एकत्रित हो गई। ग्यारह बजे के करीब पालकी उठाई गई। बम्बई जैसे अत्यन्त कार्य-व्यग्र नगर में छुट्टी का दिन न होने पर भी शवयात्रा में पंद्रह हजार की उपस्थिति देखकर सब आश्चर्यचकित हो रहे थे। बम्बई में शव को पालकी में बिठाकर निकालने की प्रथा है। दर्शकों को बड़ा आश्चर्य हो रहा था कि स्वामीजी का मृतक शरीर उत्तरोत्तर कृश एवं हल्का होता जा रहा था। प्रायः देखा जाता है कि मृत-देह धीरे-धीरे

स्थूल एवं भारी होता जाता है। परन्तु यह तो सर्वथा इसके विपरीत देखा गया। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो छिपता हुआ चांद उत्तरोत्तर क्षीण हो रहा हो। शवयात्रा में मंद गति से चलने वाले लोग उदास मुखमुद्रा और शोक-सन्तप्त चित्त से जीवन की, जगती की और जीव की क्षण-भंगुरता का अनुभव कर रहे थे। कुछ कहते हुए सुनाई दे रहे थे, "कितने मतिमान् थे, विद्वान् थे और महान् थे—स्वामीजी चान्दमल जी महाराज ! उनके तन में, मन में और वाणी में सर्वत्र सौकुमार्य का सौरभ था और माधुर्य की छटा थी। उनके परिधान में, ज्ञान में, व्याख्यान में, अभयदान में, जैनागम ज्ञान-पान में, साधु-विहित सदाचारचर्या के अवस्थान में, कषाय-कलुषित जीव के विकारों के प्रत्याख्यान में, माला के मन के के साथ मन के मनके के उत्थान में, चौबीस तीर्थंकरों के गुणगान में, जान-अनजान में अर्जित पापकर्मों के पचखान में, आत्मा के पूर्वभव और इहभव-अर्जित कर्मक्षय निमित्त किये गये धर्मध्यान में,—सर्वत्र पावनता और निर्मलता का सौष्ठव था।"

स्वामीजी श्री चान्दमल जी महाराज की नश्वर देह का अग्नि-संस्कार करके, शवयात्री मोक्षपथ के पथिक उस महान् दिवंगत यात्री के गुणों का गान करते हुए वापिस आ गये।

संवेदना के तार और पत्र आने लगे तथा शोक प्रस्ताव पारित होने के समाचार भी डाक द्वारा मिलने लगे। तीन तारीख को एक विराट् शोकसभा का आयोजन किया गया जिसमे दिवंगत आत्मा को भावभीनी श्रद्धांलियां अर्पित की गईं और उनके असाधारण, विशिष्ट और सहज गुणों का स्मरण किया गया।

स्वामीजी श्री चान्दमलजी महाराज वास्तव में एक महान् जैन संत थे। जिसका यश रूपी शरीर संसार में विद्यमान रहता है, उसको कालग्रस्त नहीं समझना चाहिये। वह तो अमर हो जाता है। किसी विद्वान् ने कहा है :

"चलं वित्तं चलं चित्तं, चले जीवितयौवने।
चलाचलमिदं सर्वं कीर्तिर्यस्य स जीवति॥

सुभाषितरत्नभांडागार, ९८।५

अर्थात्—धन, मन, जीवन, युवावस्था और संसार सब पदार्थ नष्ट

होने वाले हैं । जो जीव संसार में यश प्राप्त कर लेता है, वह कभी नष्ट नहीं होता, अमर हो जाता है ।

स्वामीजी श्री चान्दमलजी महाराज ने सम्यग्दर्शन, ज्ञानचारित्र की चर्या द्वारा और घोर तपश्चर्या द्वारा जैन शास्त्रों में विहित सच्चे गुरु की परिभाषा को सार्थक और चरितार्थ कर के दिखा दिया । शास्त्र का कथन है :

"महाव्रतधरा धीरा, मोक्षमात्रोपजीविनः ।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः ॥'-

मोक्षशास्त्र, २।८

अर्थात्—महाव्रतधारी, धैर्यवान्, शुद्ध भिक्षा से जीने वाले, संयम मे स्थिर रहने वाले, एवं धर्म का उपदेश देने वाले महात्मा गुरु माने जाते है ।

स्वामीजी श्री चान्दमलजी महाराज सच्चे गुरु के उक्त सभी लक्षणों से सपन्न थे । उनका रोम-रोम तीर्थकरों की वाणी से अनुप्राणित था, उनकी प्रत्येक धार्मिक क्रिया जिनशासन से शासित थी, उनका प्रत्येक प्रवचन भगवान् महावीर की वीतरागता से रंजित था, उनकी प्रत्येक साधना सदाचार के सद्भाव से समन्वित थी, उनका प्रत्येक सकल्प पच-महाव्रत-पालन में दृढ़ता मे संलग्न था, उनका प्रत्येक श्वास क्रोधादि कषायों के दारुण कदर्थन को दलने के लिये दिवा-निश कटिबद्ध था । सासारिक विषय-वासनाओं के आकस्मिक आक्रमण को विफल बनाने के लिए वे सत्कर्मों के वर्म (कवच) से सदा सन्नद्ध थे, परोपकार, जीवोद्धार और संसार-निस्तार के वे प्रबल समर्थक थे । सौजन्य की वे साकार प्रतिमा थे । गुणियों में, तपस्वी मुनियों में वे मूर्धन्य थे । धर्मवीर थे, धीर थे, सच्चे फकीर थे । जैन सन्त के लिए अपेक्षित वे सभी गुणों से अलंकृत थे । वे क्या-क्या नहीं थे, वास्तव में वे अपने जैसे स्वय थे ।

"जैनं जयतु शासनम् ।"

-0-

परिशिष्ट १

□

स्तवन-चन्द्रिका

(स्वर्गीय स्वामीजी श्री चांदमलजी महाराज की अठारह स्तवन-कृतियों का प्रामाणिक संकलन।)

□

संकलन एवं सम्पादन :

जैन-सिद्धान्त शास्त्री, मुनि श्री पार्श्वचन्द्रजी महाराज

जिन गुणगान [1]

गावण दे गुणगान कुमत तूं गावण दे गुणगान।
सुमत सखी रो थोड़ी दूर तो राखण दे सनमान ॥ टेर ॥
ऋषभ अजित संभव अभिनन्दन सुमति निधान।
काल अनादि रुल्यो मन थारो अब तो दे अवसान ॥
अब तो दे अवसान कुमत तू मानूंला थारो अहसान ॥ १ ॥
पदमप्रभ ने सुपार्श्व चंदाप्रभ सुविधि सुबुध गुणखान।
अब के जोग मिल्यो है मुझने करण दे जनम प्रमाण ॥
करण दे जनम प्रमाण हठीली लेवण दे लाभ अमान ॥ २ ॥
शीतल ने श्रेयांस वासुपूज्य विमल अनन्त भगवान।
अबके जिनवर आछा लागा घटियो है कुदेवां रो मान ॥
घटियो है कुदेवा रो मान कामणगारी जागण दे मुझ भान ॥ ३ ॥
धरम शान्ति कुंथु अर मल्ली नमि रिठनेमी पुनवान।
नवभव री नारी ने तज दी तू मन लीजे जाण ॥
तू मन लीजे जाण यूं ही मैं था सूं तोडूंला तान ॥ ४ ॥
पारस और महावीर स्वामी ज्यांरो नाम वर्धमान।
शासन रा सिरदार कहीजे मालिक महरबान ॥
मालिक महरबान अखीरी बात कहूं लीजे मान ॥ ५ ॥
सतगुरु नथमलजी स्वामीजी समकित रतन समान।
दीधो जिण सूं कुमत तम मिटियो पड़गी साफ पिछान ॥
पड़गी साफ पिछान जगत मांहि नहिं कोइ सुमति समान ॥ ६ ॥

---

[1] तर्ज : खेलण दो गिणगोर भंवर म्हांने

पूज्य अथ गुणगान [१]

जयो म्हारा पूज्य जी म्हारा हिरदा में वसिया रे ॥ टेर ॥

सिद्धारथ त्रिशला तणा रे ज्यों हा दोय सुवन्न ।
त्योंहि मोहन महिमा धरे रिडमल जयमल धन-धन्न ॥ १ ॥

उठे बडा घर में रह्या रे लघु लियो संयमभार ।
अठे भी बात इसी बणी रे शासन में सिरकार ॥ २ ॥

वे नारी सुख भोगव्या रे भोग करम नीठाय ।
यां रे इण भव नहीं उदै ज्यां सू बात बणी अधिकाय ॥ ३ ॥

पूरब भव गुरु सेविया वे इण भव सयंसंबुद्ध ।
ए इण भव भी देखलो सेव्या भूधर गुरु मन शुद्ध ॥ ४ ॥

मैं वां सू तुलना करूं रे अथ बतलाऊं अधीक ।
आ म्हारी मति रागिणी रे बाकी बात न ठीक ॥ ५ ॥

सोलह वर्ष इकांतरे रे पंच तिथि विगय त्याग ।
आप रह्या उपवासिया रे गुरु भाया सू राग ॥ ६ ॥

गुण में मुख सू कह सकू रे इतरी क्यां मुझ प्होंच ।
नाथ गुरु करुणा करी जद मिटियो चाँदू री संकोच ॥ ७ ॥

---

[१] राग—जलो म्हारी जोड़ रो

गुरु गुणगान [*]

गाम्रो रे गुण गुरु नाथ का,

ए दायक तट भवपाथ का ॥ टेर ॥

स्वामी सूरज रा शिष्य कहीजे,

ए नाथ है सर्व अनाथ का ॥ १ ॥

भरखीवा ने अवसर ज्ञाता,

है नायक निर्वाहक साथ का ॥ २ ॥

दरिद्र मिटायो अनादिकाल को,

ए दाता है रत्नत्रय आथ का ॥ ३ ॥

दिया जिसा है अज्ञान अंधेरे,

हार हिया रा मोड़ माथ का ॥ ४ ॥

अंतेवासी अवल बणे है,

ऐसा है गुण यां रे हाथ का ॥ ५ ॥

गुरु मिलो तो ऐसा ही मिल जो,

चादू ए धर दी है गाथका ॥ ६ ॥

---

[*] राग—ख्याली आयो रे मुल्तान से

दश समाचारी ❦

दश समाचारी पालो रे होवे दुख रो टालो ॥ टेर ॥

जावो जद पेली आवस्सिय बोलो ।
आवो 'निसीहिय भालो रे......
मिटे भ्रमणा रो चालो ॥ १ ॥

अपणे काम पूछो आपुछणा ।
पडिपुछणा पर रे संभालो रे......
घटे सर्व घोटालो ॥ २ ॥

थामो चीज जो कोई लावो ।
इच्छा वां री न्हालो रे......
भूल्यां मिच्छा वालो ॥ ३ ॥

तहत्ति शब्द ने राखो जुबां पर ।
गर आयां निज ने उठालो रे......
विनयवान रो ढालो ॥ ४ ॥

रहे जितरे सब सेवा सारो ।
समाचारी चक्र वालो रे......
शशि कहे नथ वालो ॥ ५ ॥

❦ राग—कुण मारी पिचकारी रे ?

चार समाधि [१]

धन धन विनयवान पुनवान, समाधिभाव में रेवे ॥

सेवा करे सदा समभाव, व्रत आराधे रख उम्हाव ।
अपनी प्रशंसा के भाव, जैसी बात न मुख से केवे ॥१॥

श्रुत से होवे सम्यग्ज्ञान, जिणसू होवे चित्त इकतान ।
आत्मा स्थिर रहे धरमध्यान, पर को भी स्थिर कर देवे ॥२॥

तप न करे इहलोकार्थे, इस तरह न परलोकार्थे ।
नहि जस महिमा के स्वार्थे, केवल निर्जरा हेत तपे वे ॥३॥

चौथी समाधि आचार, तप मुजब भेद है चार ।
जो लेवे हिये उतार, वे तो जाय मुक्ति या देवे ॥४॥

श्री जयमल जो समुदाय, म्हारे नथमल जी गुरुराय ।
केवे चान्द मुनि सुखदाय, चातुर इण मारग में व्हेवे ॥४॥

---

[१] राग—भगवान मरुदेवी के लाल

पंच दुःस्थान-त्याग ❧

ए तज दो पांचों स्थान, मानव भव पायो।
थाने मिलसी ज्ञान निधान, मानव भव पायो ।। टेर ।।

करड़ा थांभा हो जो मती,
ह्वेला विनय-धर्म की हान ।। १ ।।

क्रोध कदी करणो नही,
लो इण ने विष ज्यू मान ।। २ ।।

प्रमाद पांच प्रकार का,
ए करे आतम बेभान ।। ३ ।।

रोगीला मत रेव जो,
तजो कुपथ अनपान ।। ४ ।।

आलस सू अलगा रहो,
करे तन ने भैंस समान ।। ५ ।।

उत्तराध्ययन इग्यार मे,
ओ गाथा तीजी रो ज्ञान ।। ६ ।।

स्वामी नाथ करुणा करी,
जद चादू ने पड़ी पिछान ।। ७ ।।

❧ राग—कोरो काजलियो

शिष्य लक्षण [1]

मती विसरजो रे, ए शिष्य लक्षण ने हिरदे भरजो रे ।। टेर ।।

हंसे नहीं सिर नीचो राखे, इन्द्रिय मन ने दमतो रे ।
मर्म बात नहिं कहे कोई ने, है मन गमतो रे ।। १ ।।

शील स्वभावी बिन अतिचारी, अति लोलुप भी नाही रे ।
क्षमावान पुनि साचा बोले, शिक्षा ग्राही रे ।। २ ।।

उत्तराध्ययन ग्यारवें अध्ययन, चौथी पांचमी गाथा रे ।
सुपात्र को नहि जोग मिले तो, करो न साथा रे ।। ३ ।।

गुरु चेला दोनूं ही दीपता, ऐसी जोड़ी थोड़ी रे ।
दोनू ही संतोषी काटे, करम री कोड़ी रे ।। ४ ।।

नाथ गुरु की किरपा हो गई, मन में आनन्द रेवे रे ।
शिष्य लक्षण ने भूल न जाजो, चादू केवे रे ।। ५ ।।

---

[1] राग—पन जी मुंडे बोल ।

अविनीत लक्षण ❦

तज दो अविनीतां ने ज्यांरो संग निभ्यो नहि जाय ॥
संग निभ्यो नहिं जाय ज्यांने अपां न आवां दाय ॥ टेर ॥

बार-बार जो क्रोध करे है, उंडो रोष मन मांहि धरे है।
मैत्री तोड़े है विन न्याय ॥ १ ॥

शास्त्र सीख अभिमानी बणिया, छिद्रान्वेषी है हिनपुनिया।
मित्रों पर रीसाय ॥ २ ॥

प्रेमी मित्र का दुर्गुण छाने, बोले सुणावे कानो काने।
बेतुक बात बनाय ॥ ३ ॥

मन रा मैला मानी लोभी, मन-इन्द्रिय-वश पड़िया क्षोभी।
सविभाग न कराय ॥ ४ ॥

मन री भी घुडी नहि खोले, गांठा बाध हिया में घोले।
यों अविनीत कहाय ॥ ५ ॥

सूत्र उत्तराध्ययन सही है, इग्यारवे अध्ययन कही है।
गाथा सात आठ नव मांय ॥ ६ ॥

दो हजार दश गांव खांगटा, पर्यूषण धर्मध्यान सांवटा।
चाद कहे चित लाय ॥ ७ ॥

❦ राग—काटो लागो रे देवरिया

विनीत लक्षण [1]

विनीत लक्षण धारो मन में, जो आत्मिक सुख चावो रे।
उत्तराध्ययन अध्ययन ग्यारमों हिरदे आप जंचावो रे।। १।।

रत्नाधिक सूं नीचो रेवे, अचपाल सरल सुभावो रे।
कुतूहल देखे नही दिखावे, निंदा नहिं दुभावो रे।। २।।

दीर्घ रोष को दोष न ज्यां में, हितैषिता को भावो रे।
भणिया रो अभिमान रखे नहिं, नही छिद्र लखावो रे।। ३।।

हितु सूं कोइ अपराध होय तो, करे न कोप कुभावो रे।
मित्र नराज हो जाय तथापि, नहि तस मर्म दिखावो रे।। ४।।

कलह कदाग्रह करे नहीं ते, कुलीन लज्ज स्वभावो रे।
निज चेष्टा राखे गोपव ने, काय गुप्ति कहावो रे।। ५।।

सतगुरु मम नथमलजी स्वामी, वां ने ये सब ध्यावो रे।
सूत्र रेश सिखावे चोखी, चांद कहे गुण गावो रे।। ६।।

---

[1] राग—प्रभाती

धर्म लक्षण ❟

मना रे ! तूं तो मान कह्यो अब लीजे रे…
म्हारा समझ्योड़ा मना ! म्हारा सुलझ्योड़ा मना !
अधरम पथ में पग मत दीजे रे मना ॥ १ ॥

मना रे ! श्रुत और चारित्र दोनों भेदे रे…
म्हारा सुलझ्योड़ा मना ! म्हारा समझ्योड़ा मना !
आरि-बारी सू तूं रमजे उमेदे रे मना ! ॥ २ ॥

मना रे ! अणगार सागार भी मत भूले रे…
म्हारा समझ्योड़ा मना ! म्हारा सुलझ्योड़ा मना !
पेलो पाल ने उपदेशे अनुकूले रे मना ! ॥ ३ ॥

मना रे ! दश विध खंति आदिक भी जाणी रे…
म्हारा समझ्योड़ा मना ! म्हारा सुलझ्योड़ा मना !
पाल जे ओजतियांरी निसाणी रे मना ! ॥ ४ ॥

मना रे ! दान शियल तप चौथा भावा रे…
म्हारा समझ्योड़ा मना ! म्हारा सुलझ्योड़ा मना !
स्वमत परमत मांहे है ऐ चावा रे मना ! ॥ ५ ॥

सतगुरु नथ कह्यो धर्म है वस्तु स्वभावे रे…
म्हारा समझ्योड़ा मना ! म्हारा सुलझ्योड़ा मना !
चांदू जिणसू आतम गुण प्रकटावे रे मना ! ॥ ६ ॥

❟ राग—जला रे (मारवाड़ी)

विद्याहीन के लक्षण ❋

जहां ऐसा लक्षण पावे रे वो तो है विद्याहीन ॥ टेर ॥

होवे जो अक्कड़ धोचो ।
और लोभी मन रो पोचो ।
मन इन्द्रिय वश नहिं लावे रे ॥ १ ॥

जो वार वार तो बोले,
वरज्योड़ो न रहे ओले ।
निज मूरखता प्रगटावे रे ॥ २ ॥

गुरुजन आज्ञा नहि माने,
वां सू बैठो भी रहे छाने ।
जग में अविनीत कहावे रे ॥ ३ ॥

दूजां री बिल्कुल न सुणे,
हित चित री बातां न चुणे ।
वो बहुश्रुत किम धन पावे रे ॥ ४ ॥

उत्तर-अध्ययन इग्यारे,
गाथा दूजी के सहारे ।
मुनि चांद साफ सुनावे रे ॥ ५ ॥

❋ राग—जो आनन्द मंगल चाहो रे

नरक गति ❶

नरक गति दुखदायी रे, मत बांध आयुष सुण भाई रे ॥ टेर ॥

कारण चार कह्या जगदीश,
सुणने मत करजो कोई रीस।
सूत्र ठाणांग जी मांई रे ॥ १ ॥

छह काया रो आरंभ कूटो,
करतां प्राण उणारां लूटो।
करुणा मन नहिं आई रे ॥ २ ॥

सब ही दुनिया रो धनमाल,
कबजे कियां भी रहे कंगाल।
महा परिग्रही कहाई रे ॥ ३ ॥

पंचेद्रिय को करे संहार,
जिण में पाप न करे स्वीकार।
आत्मा मलिन बनाई रे ॥ ४ ॥

मांसाहार मां है तल्लीन,
रसना-इन्द्रिय रे आधीन।
दुख भुगते दिन राई रे ॥ ५ ॥

चाद मुनि कहे भाई बहनों,
गुरु नाथ को मानों कहनो।
ज्यों आतम सुख उपजाई रे ॥ ६ ॥

❶ राग—आखिर नार पराई है

तिर्यंच गति *

तिर्यंच की गति का मत बांध आयु भाई ।। टेर ।।

मन की न गांठ खोले, माया के रेवे ओले ।
बोली में खांड घोले, हिवड़े में कड़वाई ।। १ ।।

ऊपर सू अपणायत, मांहे रखे परायत ।
वो है किणी रो शायत, सबसू करे ठगाई ।। २ ।।

दिन रात झूठ वाणी, सच मांहे माने हाणी ।
तेरे अजाण प्राणी, परतीति है गंवाई ।। ३ ।।

कूड़ तोल कूड़ मापा, लेत देते अलगापा ।
क्यों बांधता है पापा, धड़िया देवे उडाई ।। ४ ।।

मुनि चांदमल्ल केता, गुरु नाथ ज्ञान देता ।
मारग धरम के व्हेता, है छोड़ के कपटाई ।। ५ ।।

---

* राग—क्या भूलिया दिवाने

मनुष्य गति ❘

सुणजो भवि प्राणी ! मिनखा गती रा कारण चार ॥ टेर ॥

सूत्र ठाणांग जी रे मांय ने,
चौथे ठाणे में जिन फरमाय ।
मुक्ति रो मारग तो खुल्लो नहीं,
देव गती न सको जो जाय ॥ १ ॥

भद्रिक प्रकृती सरल स्वभावियो,
सब रे विश्वास रो स्थानक जाण ।
तन मन वचनां में इकसरिखा पणो,
जिणसूं आतम व्है पुरुष प्रमाण ॥ २ ॥

विनय नरमाई जिणरा अंग में,
नहीं करड़ाई रो कुछ भी काम ।
सेवा कर सके वो सब जीव री,
जिणसूं उणने भी मिले आराम ॥ ३ ॥

दु:खी जीवों ने देख दया करे,
अपना ज्यूं जाणे प्राणी और ।
साता उपजावे अपणा डील सूं,
आतम नरभव री पावे ठौर ॥ ४ ॥

देख दूजां री सब विधि उन्नति,
मन में जो राखे राजी भाव ।
बांधे है वो नर रो आउखो,
मच्छरता मिटगी उणरी साव ॥ ५ ॥

चांद मुनि कहे श्रोता सांभलो,
जयगच्छी गुरु नाथ दियो ज्ञान ।
हिरदै धार्यां सूं तिरणो होवसी,
पावोला पद निरवाण ॥ ६ ॥

❘ राग—महलां में बैठी हो राणी कमलावती

देव गति ♦

सुनो सज्जन प्यारे ! निर्मल बनावो अपनी आतमा ।। टेर ।।

देव आयुष्य के कारण प्यारे चार कह्या जिनराय ।
दिव्य सुखां री चाह हुवे तो अवसर मती गंवाय हो ।। १ ।।

सराग संयम पहिला कारण कर्म बीज नहीं छूटा ।
तिण थी मरकर बने देवता पुण्य ज्यांरा अखूटा हो ।। २ ।।

श्रावक धर्म दूसरा कारण गती देवनी भाषी ।
कल्प बारमें जावे मानव आगम ज्यांरा साखी हो ।। ३ ।।

तीजा कारण बाल तपस्या अन्यमती पहचान ।
अकाम निर्जरा चौथो जाणो दाख्यो सूत्र दरम्यान हो ।। ४ ।।

चाँद मुनि कहे चोथो ठाणो ठाणांग जी को जाण ।
नाथ गुरु मुख सुणियो जिणसूं पड़ी म्हने पहचाण हो ।। ५ ।।

♦ राग—ख्याल

पुण्य फल ❥

बांधे-बांधे रे पुनवानी पुनवंत प्राणिया रे ।। टेर ।।

पुण्ये मानव नो भव पायो ।
आरज क्षेत्र उत्तम कुल आयो ।
पूरण इंद्रिय पांच मिली है सुख मन मानिया रे ।।
जिनवर सूत्र ठाणांयग मांई ।
नवविध पुण्य कह्या सुखदाई ।
अन-जल-लयन-शयन अरु वस्त्र देह सुख दानिया रे ।

मन वच काय तीन शुभकार ।
सेवा करे नमन सुखकार ।
बांधे नवविध भोगे लोग बंयालिस आनिया रे ।।
पुण्ये जीव तीर्थंकर होवे ।
मनड़ो तीन लोक रो मोवे ।
होवे चौतीस अतिशयवान जगति सब जानिया रे ।।

पुनवंत जीव धरम ने पावे ।
धीरज धार करम वसु ढावे ।
गावे चाद मुनि गुरु नाथ वचन प्रमाणिया रे ।। ५ ।।

❥ राग—तज दे तज दे रे पुनवंता

पुराण सार ❧

सुखदेव मुनि जी पाप हटने को कहो उपाय जी ॥ टेर ॥
राजकाज में सुनो सतगुरु बंधे पाप अपार।
ताते अरजी करूं आप से कर दो मुझने पार जी ॥ १ ॥
आप जिसों का भया मेटका ज्ञान तणा भंडार।
कर दो करुणा अब तो मुझपर बलिहारी हर बार जी ॥ २ ॥
सुनि नृप वचन मुनिजी बोले सुनो नृपति सुखकार।
पुराण अठारह धर्मग्रंथ को सुनत पाप परिहार जी ॥ ३ ॥
वचन सुनंत परीक्षित नृपति बोले इसी प्रकार।
नहि अवकाश इता सुनने का कहो अपर प्रतिकार जी ॥ ४ ॥
गुरु बोले तो सुण तू राजन ! कहूं दुतीय उपचार।
जो धारेगा दिल में तो तू उतरेगा भवपार जी ॥ ५ ॥
पुराण अठारों के ही है ये सार वचन दो जान।
परोपकारे पुण्य बताया पर पीड़ा पाप पहचान जी ॥ ६ ॥
गुरूपदेश सुन सोचा मन में किया तुरत स्वीकार।
चांद मुनि कहे सुनो भव्य जन नाथ गुरु दिल धार जी ॥ ७ ॥

❧ राग—ख्याल

मुक्ति के साधन ❦

मुक्ति को जाना चाहो, तो चार बात धारो।
आत्मा जनम मरण से, करसी सदा किनारो ॥ टेर ॥

सम्यक्त्व ज्ञान सेती, सब भाव को पिछानो।
स्व-पर स्वरूप समझो, निज को करो सुधारो ॥ १ ॥

दर्शन सू श्रद्धा लेना, जानो हो आप जिसको।
श्रद्धा बिना न कुछ भी, सुज्ञान दे सहारो ॥ २ ॥

चारित्र धार करके, आते करम को रोको।
बिन आचरण सुधारे, है ज्ञान ध्यान भारो ॥ ३ ॥

तप आत्म की करम से, करता है शीघ्र शुद्धि।
बहिरंतरंग छह-छह, धारो श्रुतानुसारो ॥ ४ ॥

राहू करम हटा के, चमकाओ आत्म-चंदा।
गुरु नाथ की कृपा से, लो सार सब सुखां रो ॥ ५ ॥

❦ राग—रेखता

परिशिष्ट २

चंद्र—कला

(स्वर्गीय स्वामीजी श्री चांदमलजी
महाराज की प्रामाणिक पद्यमय
जीवनी)

रचयिता

आगम-व्याख्याता, पंडित-रत्न
श्री लालचंद्रजी महाराज

मंगलाचरण

जगत-पती जिनराज को, जपो आप नित आप।
जग तपती मिट हूं विजय, चन्द्रप्रभ परताप ॥ १ ॥
शासनपति को शुद्ध मन, स्मरूं हरूं अघ सर्व।
जिण निज चेतन चंद्र को, हर्यो राहु नित-पर्व ॥ २ ॥
वीर-वाणि प्राणी हिये, त्योंहि अनेकों चंद।
छोडि कृष्ण मय पक्ष को, पूर्यो शुक्ल अमंद ॥ ३ ॥
जय-अनुयायी स्वामि-नथ, तकि शिष्य तृतीय।
चांद चरित रचिबे स्पृहा, है उपजी मुझ हीय ॥ ४ ॥
सद्गुरु कृपया कार्य यह, निरंतराय हूं पूर्ण।
आरोहूं गुण गिरि उपर, पावूं शिवपद तूर्ण ॥ ५ ॥

कला—पहली, तर्ज—चौपाई

जबू भरत मरुधर के मांही, सोजत ब्यावर बीच सुहाही।
पीपलियो एक जाहर गाम, सरवर तरवर शोभिर धाम ॥ १ ॥
धूम्रयान दक्षिण दिशि चाल, उत्तर में मोटर बस म्हाल।
सत्ता केन्द्रिय शासन केरी, विविध जाति चउवर्ण वसेरी ॥ २ ॥
क्षत्रिय वरण वीर रस धारी, धीर धरमप्रिय वैश्य विचारी।
शूद्र लोकसेवा स्वीकारी, ब्राह्मण दे विद्या हितकारी ॥ ३ ॥
सौख्य सकल दुख देखन नांही, सब ही लोग वसे सुख मांही।
माली कोम तंवर नखधारी, 'जगजी' नाम सुगुण कह धारी ॥ ४ ॥
"पारी" तास प्रिया अतिप्यारी, है 'हरदेव' पुत्र सुखकारी।
खेती वाड़ी काम सदाई, सुख संतोष सुगुण वरताई ॥ ५ ॥
साधु संत सती जब आवे, दर्शन करण नमन कूं आवे।
सत संयत उपदेश सुणीने, राजी हूं नवकार सुणीने ॥ ६ ॥

एक दिवस की बात बताऊं, कारण कारज जोग मिलाऊं।
माली मालण उभय विचारे, सुत हरदेव बहुत गुण धारे ॥ ७ ॥

कामकाज सब समझ सवाई, खेतवाड़ी की अक्कल आई।
अब अपणे कुछ चाहे नाही, थोक मिल्या है आय सारा ही ॥ ८ ॥

पारी कहत सब साची बात, सुख मिलिया है सब साक्षात्।
पण आतम उद्धारण कांई, ऐ तो ठाठमाठ दुनियाई ॥ ९ ॥

यां सूं अधिकाधिक कइ वारा, पण जनि मरण न पायो पारा।
मनुष जनम फल धरम धर्‌यां सूं, करणी तप उत्तम करियां सूं ॥१०॥

जची बात जगमल के जीव, आ तो है नरभव री नीव।
पण बोले दोनों आपांई, कहो धरम कर सक हां कांई ॥११॥

सीख दीख अरु भीख है दोरी, हिम्मत लेण न होवे मोरी।
पारी कहे जो कोई ले तो, नही कहोला ना अब थे तो ॥१२॥

इती बात पर कायम रेजो, लो तो धरम दलाली ले जो।
बोलत पति मंजूर परंतु, हरदेवो नहिं ऐसो जंतु ॥१३॥

अब जो सुत दूजो हो जासी, वो अवेस आतम उजलासी।
इणविध बात विगत कर दोनों, दृढ़ निश्चय सम करि धरि मौनो ॥१४॥

बीतत केतिक काल लखाई, गरभ चिन्ह पारी तन मांई।
हरस विशेष हृदय में होवे, भले विचार हृदय में पोवे ॥१५॥

ओसवाल इक बाई कुसुम्बा, करत साथ धरम लोह चुंबा।
सुणत बखाण संत सतियां को, पालत धरम जैन जतियां को ॥१६॥

चंद्र-कला पहली यह ढाल, उलसित मन पूरी 'मुनि लाल'।
जैन धरम है करे जिणांरो, इह नहि जाति वरण को सारो ॥१७॥

सोरठा

बरसादां बरसीह, तरसी धरा तिरपत हुई।
करसां मिल करसीह सरसी हद खेती सुखद ॥ १ ॥

हरियाली छाई ह, खुशियाली भ्राई क्षमा।
वनमाली भाई ह, शष्याली खाली न क्षित ॥ २ ॥

लहे लहरियां लाह, प्रेरित रहे पवन्न पण।
भ्रह दे रह्या उमाह, कवि वर्णन कर कह रह्या ॥ ३ ॥

सावन आयो मास, मन भावन भादव लियां।
जेठ बेठावण जास, भ्राश ढावण भ्राषाढ़ भी ॥ ४ ॥

पथिक छोड़ निज पंथ, भ्रंथ हुभ्रा भेला घरे।
कामणियां मिल कंथ, थिर बैठा निगरंथ पण ॥ ५ ॥

कला—दूसरी, तर्ज—तावड़ा धीमो…

सुखद ऋतु सावन की भ्राई रे सुखद ऋतु सावन की भ्राई।
सदा न रेवे धूप सदा घन रहे न वरसाई ॥ टेर ॥

सूरज कदी उघाड़े मुखड़े, कदि घन घुंघटाई।
निरखे हरखे कदेक बादल, मांहे छिप जाई ॥ १ ॥

इण भ्रठखेली रंगरेली में, करसा साराई।
कर्‌यो विचार चलो खेतां में, निनाण करण तांई ॥ २ ॥

भेली हुय ने भायलणियां, मालणियां ऐ तो।
भ्रावो भ्राज जगाजी कांनी, पारी रे खेतों ॥ ३ ॥

खुरपियां लेय गीत गावती, उण रे घर कूं भ्राय।
भ्रावाज सुण पारी पण भ्राई, स्वागत करे उम्हाय ॥ ४ ॥

बोले सब ही चालो जल्दी, मोड़ो हो जासी।
ले खुरपी है खेत मोटो जद, पारी परकासी ॥ ५ ॥

चालू पण नहिं निनाण करसूं, कह कर सबरे साथ।
चाली भ्राली वार्ता करती, भ्राल हाथ में हाथ ॥ ६ ॥

निनाण रो नाकारो करियो, पूछ्यो कोई निदान ।
कह्यो दूजी यों देखो कोनी, दो जीवां अनुमान ।। ७ ।।

जितेक तीजी बोली सायण, लीलोती रे पाप ।
कीकर तोड़े अंकुरां ने, आ है अरमण आप ।। ८ ।।

इतेक चौथी कह्यो जावे आ, विणिजाण्यां रे संग ।
ढूंढणियां री कथा मायलो, लागो दीसे रंग ।। ९ ।।

इतरे बोली सखी पांचमी, थे ही थे सब बोल ।
सभी बात कर लेवो ला तो, चला लेसी आ पोल ।। १० ।।

छट्ठी बोली मना करे कुण, बोलो अपणे आप ।
नहीं बोल्यां सूं बोले जिणरी, लाग जावे है छाप ।। ११ ।।

पारी कह्यो थे केवो जितरा, सब कारण है साथ ।
महाजनां री भी भेलप है, सतियां रे संगाथ ।। १२ ।।

सुणूं बखाण सो समझ पड़ी कुछ, धरम पुण्य ने पाप ।
कांई करियां कांई हुवे सो, वे बतलावे साफ ।। १३ ।।

लीलोती रो पापोदड़ो तो, निसचै है निनाण ।
पण कीड़ी मकोड़ी टीड कातरा, जीवां रो घमसाण ।। १४ ।।

सातमी बोली लो आ सुण लो, करी बात कैसी ।
इतो पाप तो बता दियो पण, पुण्य गो कित पैसी ।। १५ ।।

कह्यो आठमी अबे बोल तब, पारी दियो जवाब ।
पुण्य तो करियां सूं ही होवे, पाप तो अपने आप ।। १६ ।।

सुणने बायां कह्यो खेती सूं, घणा भरे है पेट ।
पुण्य भी हो जावे परबारो, मन रो सांसो मेट ।। १७ ।।

'लाल' ढाल आ दूजी गाई, पुनवंत गर्भ प्रभाव ।
धरम भावना पाप भीरुता, अरु सुबुद्धि समभाव ।। १८ ।।

दूहा

पारी पभणे प्रेम सूं, नर पशु पंखी थाय।
बरे-थुगें-खावे-सेवे, ते किम पुण्य हो जाय ॥ १ ॥

नहिं पावण देवण लिहुव, करो कोटि कलाप।
अन्तराय देवां जिको, कहे बाकसी पाप ॥ २ ॥

सुख देवण री चाह सूं, करे जु आछो काम।
तिण मांहे तो तुरत सूं, पुरुष पुण्य फल पाम ॥ ३ ॥

कोई कह्यो मेहनत करां, खेत हेत थरखंत।
धान सिवा ऊगे धरा, दंड निताण दिखंत ॥ ४ ॥

नहिं तो दोनुं हि जात री, कदापि ऊगे नांय।
पारी कहे इतरी समझ, नहीं वनस्पति मांय ॥ ५ ॥

आपां भी समझां जिकी, स्वार्थ वस्य कइ काम।
करां लगा अलखावणी, नारी धराय नाम ॥ ६ ॥

आ लीलोती अणसमझ, ए अज्ञानी जीव।
कछुक जरूरत कारणे, नहिं दूं नरक री नीव ॥ ७ ॥

कला—तीसरी, तर्ज—ख्याल

पारी रे खेलां, चर्चा चाले रे ज्ञान विज्ञान की ॥ टेर ॥

केई जणियां इस पर बोली खेती करे सो खावे।
हक नाहक री हरेक आदमी साफ नीति सुणावे हो ॥ १ ॥

दियो जवाब पारी ऐ बायां ! आ किम होवे सांच।
खेत आत्मा रो धान एकलो खा कुण सकसी आंच हो ॥ २ ॥

बामण बणिया ठाकर-ठूकर खेती करण नहिं जावे।
तो भी देखलो खावे धान ए कुण इनकार करावे हो ॥ ३ ॥

गाबा बणावे बुण कर ने वले गहणो घड़े सुनार।
मांडा घड़े कुंभार देखलो बापरे सब संसार हो ॥ ४ ॥

आप आप री काम करे सब स्वार्थ हृदय में राख।
कुण उपकार करे है किणरो [illegible] साख हो ॥ ५ ॥

धन्य-धन्य एक साव सती ही छोड़ जगत् को खेल।
तारे आतमा निज पर केरी पहुंचावे शिवमहल हो ॥ ६ ॥

बोली लुगायां बाई आतो बात कही है सांची।
जवाब होवे तो देवो इणने जियड़ा मांहे जांची हो ॥ ७ ॥

इतेक एक जणी कोई बोली अपने खप री आप।
सभी जणा उपजावे चीजां ओ नीति रो नाप हो ॥ ८ ॥

जितेक दूजी बोल ऊठगी आ तो नीति ढेटी।
मिनख रे लुगाई चाहिजै तो कांइ भोगे बेटी हो ॥ ९ ॥

सब जणियां तब हंसणे लागी ठीक कही ये बात।
पारी री तो जीत हो गई धर्म तणी करामात हो ॥ १० ॥

पारी कहे धरम और सत री जीत होवती आई।
करो करावो चाहो ज्यूं पण मानो साच सवाई हो ॥ ११ ॥

पाप करंता सोरो लागे पुण्य करंता अबको।
धरम रुचे है कोइयक जीव ने पण सुखदायी सबको हो ॥ १२ ॥

आखो दिन आनन्द मंगल में काम निनाण रे साथ।
झूठा विचारां रो निनाण पण हो गयो साथो साथ हो ॥ १३ ॥

सांझ समै निज-निज घर सब ही करती वा हीज बात।
आई गांव में बात बिखेरी सुण अचरज उपजात हो ॥ १४ ॥

बातां करी विवेक री स इण पारी गर्भ प्रभाव।
नीकलिया मुखड़ा सुं निहचै उपज्या जिसा जु भाव हो ॥ १५ ॥

गर्भ अवधि परिपूर्ण हुई जद शुभ वेला तिथि वार।
पारी सुन्दर पुत्र प्रसवियो हियड़े हर्ष अपार हो ॥ १६ ॥

कुल क्रमागत विधि साचविने चोलो दियो जु नाम।
तीजी ढाल में लाल मुनि कहे कथा अंकुरित आम हो ॥ १७ ॥

दूहा

हरखे हिये हरेक ही, बालक ने अवलोक।
शिशु अवतार है ईश रो, मानो वृक्ष अशोक ॥ १ ॥
करे लाड लेवे करां, खेलावे धर खन्त।
फूल गुलाब सो फुटरो, पण नहिं कंटकवंत ॥ २ ॥
जाणे जग जगमाल जी, अवे जनम अनमोल।
इसो कोई जन्म्यो नहीं, आगे अपणी ओल ॥ ३ ॥
पारी प्रेम समुद्र को, पाय लियो ज्यों पार।
रखे जतन मानो रतन, आतम करण उधार ॥ ४ ॥
जग में धन जननी जनक, पाय जु ऐसो पूत।
नहिंतर रहणो नीक है, आखी उमर अपूत ॥ ५ ॥
सुण-सुण कर ऐसा सबद, लख-लख औ, दीदार।
उपज-उपज सुविचार कई, फरसहि तन सुकुमार ॥ ६ ॥
दिन-दिन वधै संधै सुगुण, चोल बाल चित चोर।
चिंता तम पर चंद्रमा, आनन्द उदधि हिलोर ॥ ७ ॥

कला—चौथी, तर्ज—घनश्याम की

होवे जिसा ही होवणहार, वैसा सब जोग मिले।
दूर होवे है मोह दिवार, कलियां सूं कमल खिले ॥ टेर ॥
हरदेवे हुंशियारी लीधी, पिता देह थिति पूरी कीधी।
माता मन पड़ियो विचार ॥ १ ॥
धीरज धर दृढ़ कीधो निरणय, हरदेवा रो करके परिणय।
म्हें दोनों लेवां संजम धार ॥ २ ॥
एक दिवस पारी रे तन में, ह्वी तकलीफ अधीरी मन में।
पण सावधान अपार ॥ ३ ॥
ओसवाल मटेवड़ा जाती, बाई कुसुम्बी ने बुलवाती।
आई है वा धर प्यार ॥ ४ ॥

बोली पारी सुण लीजो थे, काम एक ओ कर दीजो थे ।
अब जीवण रो नहीं इतबार ।। ५ ।।

म्हां पर कोइ न लेणो देणो, हरदेवा रो रेणो सेणो ।
है सब घर अनुसार ।। ६ ।।

पण टाबर है जो एक चोलो, घणो फूटरो मन रो भोलो ।
इणरी थे रखजो सार ।। ७ ।।

चोखी बात सिखाइजो इणने, धर्म आखर दीजो गिण-गिण ने ।
भर जो वैराग्य संस्कार ।। ८ ।।

कोमल कूंपल मानु जरा-सी, ज्यो लूलावे त्यों लुल जासी ।
भूल न कीजो लगार ।। ९ ।।

चोखा कोई मुनिवर आवे, मेहनत कर इणने सिखलावे ।
वांरे चढाजो चरणार ।। १० ।।

म्हारी इच्छा ही वरसां सूं, पण शायद मैं अब मर जासूं ।
थाने भोलाऊ आ बेगार ।। ११ ।।

बाई कुसुम्बी तब यूं बोली, आ तो बात बड़ी अनमोली ।
बेगार सबद निवार ।। १२ ।।

मैं ओ काम तन मन सूं करसू, इण सूं मुझ आतम उद्धरसू ।
धरम दलाली उर धार ।। १३ ।।

स्वामी सूरज मुनि रा चेला, राज ओर नथ मुनि अवेला ।
वे है गुणा रा भंडार ।। १४ ।।

वांने मैं बहरा देऊंला, थारी मनसा भी केऊंला ।
राखेनी मन में हिम्मत धार ।। १५ ।।

पण आ डोरी आयुष वारी, ही कमजोर बांधी थी पारी ।
आ तो बोलती मुख नवकार ।। १६ ।।

सिर पर हाथ फैर पुचकार्यो, चौला ने पारी तज डार्यो ।
चौथी ढाल मझार ।। १७ ।।

दूहा

भूलीजे किम मात सूं, माता वाल्यो मोह।
मेवा मांहि भरीजगो, मावे मातास्नेह ॥ १ ॥

टाबर पणें टंगीजता, सदू कला लहलूंब।
आंखां इमरत उतरतां, बालक री सुण बूंब ॥ २ ॥

हींडो दे दुलरावती, पण अंगूठ धरं प्रेम।
बैठी घर कारज विविध, नहिं विसरण रे नेम ॥ ३ ॥

दिखणी चीर दिशावरी, दिशावरी भी देख।
मंगलीक ही मानती, पाती मन मुद पेख ॥ ४ ॥

सूके मांहि सुवाणती, आले सुवती आप।
रोवतड़ा ने राखती, प्रमुदित सुनत प्रलाप ॥ ५ ॥

जाणतड़ां जननी तणां, गुण घणा हि गिरुआह।
पण न कहीजे पूरसल, हूरे समय हिरुआह ॥ ६ ॥

कुसुम्बी बाई कोड़ सूं, धरम भावना धार।
चोला ऊपर चित्त सूं, पूरो राखे प्यार ॥ ७ ॥

हरदेवो हरबार ही, भ्रातृप्रेम भलभाव।
सब ही काम संभाल-तो, दिल सूं दे दरसाव ॥ ८ ॥

दिनां मासां वरसां दुरत, दुख कुछ दुर ही जाय।
सभी जणां री समझलो, समय ही करे सहाय ॥ ९ ॥

सूरज शिष्य पधारिया, पीपलिया रे मांय।
धरमी जन मन मुद धरयो, हरखे संघ सवाय ॥ १० ॥

पारी कथन ने याद कर, बाई कुसुम्बी आय।
"चोला नैं चेलो करो", कहियो साथे लाय ॥ ११ ॥

मुनिराजां उत्तर दियो, "मूं नहिं करां स्वीकार।
[illegible] निकट र दूर का, कुछ लेवो परिहार" ॥ १२ ॥

कला—पांचवीं, तर्ज—तेरी फूल सी

धन्य इसा निर्लोभी मुनिवर निज पर आतम तारे रे।
शिष्य लोलुपता ज्यांरे नाही सब ही कारज सारे रे॥ १ ॥

बाई कुसुम्बी राजी होकर हरदेवा सूं विचारे रे।
मातृ कथन उणने भी याद थो सो आ बात स्वीकारे रे॥ २ ॥

पण जाण्यो कोई काका बाबा शामिल अथवा न्यारे रे।
काल दिनां कोई देवे ओलंभो तो हो जाऊं बारे रे॥ ३ ॥

वो सब इण परमाद में लागो मुनिवर कीध विहारे रे।
बासिये होकर चंडावल में परगट आप पधारे रे॥ ४ ॥

पीछे पूछकर पीपलिया में सावल काम संवारे रे।
बाई कुसुम्बी और हरदेवो पूछ लियो परिवारे रे॥ ५ ॥

घणा जणा तो सहमत हूवा कोइयक विघ्न करारे रे।
वांने भी समझाया लोगा क्यों दो आडी अकारे रे॥ ६ ॥

जो पुनवान हुवे शुभकर्मी सिद्ध काम ह्वै वांरे रे।
सब विधि सफल होय कर आया चंडावल मंझारे रे॥ ७ ॥

स्वामी जी ने करे समर्पण चोला ने तिणवारे रे।
पण चंडावल श्रावक संघ री साखे गुरुवर धारे रे॥ ८ ॥

चांदू नाम धर्‌यो वेला लखी मन में हरस अपारे रे।
बाई कुसुम्बी और हरदेवो पाछा गाव सिधारे रे॥ ९ ॥

चौथ गंभीर बखत चांद यों वैरागो है चारे रे।
ज्ञान ध्यान करता ही रेवे विनय नही विसारे रे॥ १० ॥

आपस माहे प्रेम सूं रेवे वरते मगलाचारे रे।
गांवो गांव में जावे जठे ही सब ही का मन ठारे रे। ११ ॥

साधु साधवियां श्रावक श्राविका संघ चार सुखकारे रे।
गुरु और गुरुभाइयां सूं हरसे मन हरवारे रे॥ १२ ॥

ओ परिवार तारणे वालो सभी जगह सत्कारे रे।
वो परिवार केवल एक ठोरां स्वार्थ सूं पुचकारे रे॥ १३ ॥

मातु मोह और प्यार पिता को भाई बहन दुलारे रे।
पण गुरु कृपा होवे पूरी तो रहे सब ही लारे रे ॥ १४ ॥

इणविध ज्ञान अभ्यास धारणा उद्यम बुद्धि अनुसारे रे।
आवश्यक स्तोकादिक आगम स्तवन सज्झाय चितारे रे ॥ १५ ॥

अनुक्रम दीक्षा हुई तीन री नथ-मौक्तिक विस्तारे रे।
स्वामि चौथ निज जोड़कला में पहुचे आरंपारे रे ॥ १६ ॥

'श्रमणलाल' पांचवीं ढाले सार सार समझावे रे।
गुण कुण पूरा कह सके बोलो रसना एक है म्हारे रे ॥ १७ ॥

दूहा

संवत् उगणीसे पैंसठे, नूतन वरस नीहार।
रायपुराधिप हरिसिंह, श्रावक अरज गुजार ॥ १ ॥

अब छोटे से शिष्य की, दीक्षा भली प्रकार।
चैत्री पूनम की तुरत, तिथि थापी श्रीकार।

छंद—शिखरिणी

बजे बाजा गाजा, मुदित मन राजा प्रभृति है।
हमेशां बंदोला, हरस रस घोला निकलता।
घणा भाया बाया, निकट वली दूरा निवसता।
रहे आता जाता, नजर भर मेलो निरखता ॥ १ ॥

करावे है कामा, हृदय अभिरामा नरवरा।
जिमावे है सारा, करत सुखकारी सरवरा।
सरावे है सारा, गजब मनुहारा सब करे।
दुखी आवे कोई, विपद अलगी भी तस करे ॥ २ ॥

वखाणां वाणी सूं सकल जन लाभान्वित बणे।
कई तो मिथ्यात्वी, तज कुमति साची सुमति ले।
बणे पच्चक्खाणी, शपथ व्रति लेता अणु-महा।
सिखे सीखावे है, विविध विध पाटी धरम री ॥ ३ ॥

कई दूरां सूं भी, मुनिवर पधार्या विचरता।
अजाण्या जाण्या भी, स्व-पर समुदायी विनति सूं॥
पधार्या आर्याजी, परम मुद आयां मन हुओ।
घणा सामा जावे, विनय भल भावे भगति सूं ॥ ४ ॥

गवावे गावे है, समय अनुसारी स्तवन वे।
कई चौवीसीयां, मधुरतम धुन सूं स्वर लयी।
दिपावे मौका ने, सरस शुचि वातावरण सूं।
सुहावे लोगों ने, स्व-पर मत वाला जस करे ॥ ५ ॥

कहे आयोड़ा यों, धन धन धरा रायपुर री।
जठा रा लोगां तो, सुकृतमय आयोजन कियो।
लहे ल्हावो देखो, निज नगर व्हावा कर दियो।
अहोभाग्ये ऐसा, अवसर हमें भी कब मिले ॥ ६ ॥

लखो वैरागी को, वदन मनहारी दमकतो।
फबे गाबा चोखा, तनय मनु होवें नृपति को।
गहेणा गांठा सूं, अमर तरु जैसो जब रह्यो।
पिता-माता यों रा, प्रगट शुभभागी बन गया ॥ ७ ॥

कहे कोई प्रेमी, न कर इतनी कीर्ति कथनी।
कली कच्ची देखो, नजर लगते ही मुरझती।
भले ही तो है जो, गुरुवर तथा शिष्य लगते।
जड़ा मानो हीरा, कनकमय भूषाऽऽभरण सा ॥ ८ ॥

मिले चेला जी ये, दिन-दिन रती है बढ़ रही।
कला चंदा जैसी, सतत चढ़ती नाम सदृशा।
लगा है उम्हावा, मुंह उपरि सोला झलहले।
बढी तालाबेली, विरति-वनिता से मिलन की ॥ ९ ॥

किलो ह्वा जंगी ही, दृढ़ तर भले ही मोह-नृप को।
कषायों की खाई, विषय-जल वाली झिल रही।
विकारों की ल्हेरां, विषम अति होवे प्रसरती।
नहीं हारेला ये, विषम-वन पै ज्यों पवन है ॥ १० ॥

उमंगां सभी है, चढ़न हित दीक्षा शिखरिणी।
इहां देंगे ये तो, गढ़ दृढ़ मुनि हो करम का।
सहारा देंगे ये, गुरु अरु गुरुभ्राह्य प्रते।
वसत्यां सेवाओं, सुजस बहु लेंगे जन कहे ॥ ११ ॥

दूहा

बंदोली बहु ठाठ सूं, निकली घणी सनेह।
शहर गांव अरु निकट रा, दूरां रा देखेह ॥ १ ॥

आज चोट डंके तणें, घुरत निशाने घाव।
दशों दिशाओं हो गया, दीक्षा का दरसाव ॥ २ ॥

चतुर काम चौड़ा तणो, करे न छाने कोय।
देख कोई चेते मनुज, शासन उन्नत होय ॥ ३ ॥

आरंभ को अनिवार्य लख, किय आत्मार्थि अनेक।
आगे आगम में कथा, जाणे लोग हरेक ॥ ४ ॥

चोरी कोइ री है नहीं, बाधक को नहिं व्हेम।
साहू साहूकार सब, धरे धरम सूं प्रेम ॥ ५ ॥

अविश्वास आत्मा तणो, पछे पलेला या न।
ओ भी छाने लेण में, एक रहे अनुमान ॥ ६ ॥

मेलो मंडियो मुलक रो, सूरजपोल साक्षात।
जुड़ी खूब जनमेदिनी, मन उमंग न समात ॥ ७ ॥

वैरागी वैराग्य रस, सत्संगति सर मांय।
मिले झबोला खाय है, देख्यां हि आवे दाय ॥ ८ ॥

असवारी सूं उतर के, उप गुरुवर के आय।
वंदन करे विवेक सूं, पांचों अंग नमाय ॥ ९ ॥

सभी सन्त सतियां प्रते, विधि सूं क्रम अनुसार।
छोटां बडा मुनि महासत्यां, सब ही के नमस्कार ॥१०॥

फिर दर्शक सब जन प्रते, "जयजिनेन्द्र" कर जोड़ ।
कर केसर के छाँटणे, हिय री होड़ाहोड़ ।। ११ ।।

सुन मांगलिक आज्ञा लही, सकल संघ की साख ।
फिर एकान्त ईशान में, गये वेश अभिलाख ।। १२ ।।

भूषण भार उतारियो, सीमित वस्त्र सुहाय ।
किय सिर मुंडन कोड़ सूं, स्नापक अस्त्र सुआय ।। १३ ।।

मन को मुंडन खुद कियो, केश कुभाव अभाव ।
सरल सुभाव सुधार निज, मुंडित द्रव्य रु भाव ।।१४।।

कर्यो स्नान शुचिभूत हुय, विधि उल्लणिया लूंछ ।
वर्यो वेष मुनिराज रो, मिटी जु घाछाघूंछ ।। १५ ।।

स्वस्तिक कियो सुहागिनी, राग धर्म रमणीय ।
कपाल तल पर कोड़ सूं, कुंकुम को कमनीय ।।१६।

छंद—मोतीदाम

तटे कटि चोलपटो सु-लपेट,
दिवी पटलीं जु सुशोभित पेट,
लिवी फिर चादर आदर युक्त,
खंवां तक छादित बाँधि यथुक्त ।। १ ।।

फबी मुख पैं मुखवस्थि अनूप,
बंधी युत दोरक शुद्ध सरूप,
अलंकृत ह्वी दुहुं कान सुपाय,
लियो उपयोग श्रुती सदुपाय ।। २ ।।

दिपे मुख पीयूष कुंभ समान,
लम्यो ढंकणो तिण ऊपर तान,

कहीं उड़ जा न प्रमाद समीर,
बंध्यो इन कारण कान सुधीर ॥ ३ ॥

सुनो मत कोइ सुनाय अजोग,
वसै जग में कइ भान्तिय लोग,
रखो निज के श्रुतिबंध सदाय,
करे इम शिक्षण दोर सबाय ॥ ४ ॥

वदो मत आप सुनो जितनो हि,
कहो सु जरूरत है इतनो हि,
सके पड़ कान अनिश्चित बात,
कढे मुख में अविचारि न मात ॥ ५ ॥

बध्यो इन हेतु वदन्न सुनाम,
वले मुखवत्थि कियो सु मुकाम,
बणी चवड़ी निज अंगुल सोल,
वले इकवीस सु आयत ओल ॥ ६ ॥

बणो तुम सोल कला युत चन्द,
वधो विसवा इकवीस अमंद,
वदे प्रत आठ सुसीख सवाय,
रहो निज आठ गुणा प्रगटाय ॥ ७ ॥

विना दवरे किय आप अनाथ,
घुसी घर दोनुं हि आतन हाथ'
कदे दुहु साथ करे जु रमण्ण,
कदे इक साथ करे विचरण्ण ॥ ८ ॥

कदे अवमानित हो रहि औणि,
कदे उतरी अध साथल गौणि,
भटक्कत ज्यों हुय रूप विरूप,
अनाथ लहे विनिपातिक कूप ॥ ९ ॥

करौं कछु दोरक हेतु बखान,
सुनो तुम साजन वेकर ध्यान,
तजावत जागतिको हु सम्बन्ध,
मनो मृतपिंड सुघाटित संघ ॥ १० ॥

प्रजापति तुल्य कह्या गुरुदेव,
भजो पद पद्म तजो अहमेव,
मिटावत चक्र परिभ्रमणोह,
हटावत दंड परिक्रमणोह ॥ ११ ॥

मुखे मुखवस्थि रहे सुफलाय,
न तो करवस्थि करोत लगाय,
हवाकिय जीव विराधन होय,
चले निकसे मुख सावज सोय ॥ १२ ॥

रखो मुख मौन बुरी नहिं बात,
बिना इसके नहिं लिंगि कहात,
पड़े किम जैन मुनित्व पिछान,
लिख्यो परग्रंथन के दरम्यान ॥ १३ ॥

रहे घट वस्तु भर्या मुख बंध,
करे कुण खालिय को सुप्रबंध,
कहे कोई घोटक तोबड़ नेक,
लख्यो नहिं गर्दभ तुंड कितेक ॥ १४ ॥

तथा जु लग्यो वर पत्र टिकट्ट,
बरो शिव थानक आप प्रकट्ट,
कहो उत बेरिंग झेलहि कौन,
अतः अटके बिन शीघ्र सुगौन ॥ १५ ॥

दिपे मुख चांद वैरागिय केर,
लियो सुरजोहरणो कख फेर,

सबै कर जोड़िय नाम सीस,
पचास्त आप गुरु उपदेस ॥ १६ ॥

छंद—भुजंगप्रयात

करे वन्दना पाठ बोले तिक्खुत्तो,
विवेक कहे है जगी-मालिपुत्तो।
दिरावो गुरुजी म्हने आप दीक्षा,
पलो श्री पसाएंसुचारित्र भिक्षा ॥ १ ॥

लह्यो मंडली आपकी में अबे तो,
करूं सेव बीत्यो अहो काल केतो।
घड़ी आज आनन्द की चाल आई,
दिवानाथ ऊग्यो सु है सौख्यदायी ॥ २ ॥

छंद—हरिगीतिका

जनि आधि व्याधि उपाधियां वार्धक्य पुनि मृत्यूमयी।
इस लोक में अग्नी लगी है घास जनता नित नयी।
हे नाथ ! मैं क्या-क्या बताऊं ? बुझाई बुझती नहीं।
गर बुझादूं इस तरफ तो उधर नूतन लग रही ॥ १ ॥

जिधर देखूं उधर ही बस ज्वाल माल कराल है।
धांय-धांय जला रही हा ! लाय अति असराल है।
जलते हुए निज सदन से जिस तरह स्वामी गेह का।
बहुमूल्य कमभारीक वस्तु जो उसी के स्नेह का ॥ २ ॥

लेकर उसे अन्यत्र जा एकांत सदूरक्षित रखे।
तब सोचता निस्तार होगा मैं रहूंगा अब सबे।
बाद में होगा हितावह और सुखकारी सबक।
सामर्थ्य यह देख मुझे कल्याणकर है अर्पण ॥ ३ ॥

हे कृपालो ! आत्म मेरा एक बस सुखधाम है।
इष्ट-कान्त-मनोज्ञ-प्रिय सब ही तरह अभिराम है।
इसके बिना संसार में कोई न है मेरा प्रभो !
यही केवल है टिकाऊ पास में मेरे विभो ! ॥ ४ ॥

मैं चाहता हूं आप इसकी कर कृपा रक्षा करो।
लेकर चरण की शरण मुझ को अब दया से आवरो।
पट प्रव्रज्या मुकुट मंडन सीस वेश दिलाइये।
मैं वेश अनल निरोध धारूं कर कृपा दिलवाइये ॥ ५ ॥

शिष्यत्व से स्वीकार कर मम चित्त की चिन्ता हरो।
रिक्त मेरे हृदय घट को रत्नत्रय गुण से भरो।
है न भगवन् ! आप-सा उद्धारकर्ता लोक में।
ज्ञात मुझ को हो गया है ज्ञान के आलोक में ॥ ६ ॥

छंद—भुजंगप्रयात

तभी संघ री लीवि आणा गुरु जी,
हुई मंगलीका विधी सू शुरू जी।
करे ईरिया री क्रिया सर्व वामी,
पुनः तस्स उत्तार रो पाठ नामी ॥ १ ॥

करे काउसग्गं गुणे पाठ ईर्या,
नमस्कार मंत्रे महा आत्मवीर्या।
कहे लोगसुज्जोय को पाठ आप,
सभी हो गया लोग है चुप्पचाप ॥ २ ॥

सभी साधकों में सदा उत्तोमोत्तम्
तीर्थंकरों को इसी हेतु से नम्,
सदा साधकों में स्वयं को समाने
करे पच्चक्खाणं यहां पे सयाने ॥ ३ ॥

अहो नाथ ! सावद्य के त्याग होवे ।
जहां लों जिऊं पाप को साफ धोवे ।
मनो वाणी काया करूं ना कराऊं।
करे पाप ज्यांने भला ना मनाऊं ॥ ४ ॥

किया आज न्हेला हटूं दूर वां सूं ।
करूं आत्मनिन्दा गरीहा गुरां सूं ।
अभी बाह्य आत्मा दिवी वोसिराह् ।
लिवी अन्तरात्मा तणी शुद्ध राह् ॥ ५ ॥

इसी भांति दीक्षा दियो मंत्रपाठ ।
खड़ा जानु बांया रखा बैठ ठाठ ।
कह्या सिद्ध अर्हत ने दो नमुत्थु ।
विधी पूर्ण होतां अभुट्ठीय अत्थु ॥ ६ ॥

बिठाया कन्हे पाट माथे उणाने ।
लिया केश चोटी तणा लोच माने ।
करी वंदना पूछता सन्त साता ।
सतावृन्द वांदे यही नेम आता ॥ ७ ॥

सुवेला जभी आपकी जैन दीक्षा ।
भला लग्न था सिंह सिंहांश वीक्षा ।
द्वितीये धने भाव कानीन चंद्र
सुते पंचमे धन्वि केतू अतंद्र ॥ ८ ॥

मृतौ अष्टमे मन्द चन्द्रीय मीनी ।
नमे धर्म भावे रवी मेष लीनी ॥
महीपुत्र औ शुक्र की राशि वृष्य ।
रहे कर्म राज्ये नभो भाव शस्य ॥ ९ ॥

तमो युग्म राशिस्थ इग्यारमें है ।
गुरु उच्च का कर्क का बारमें है ॥

सुदीक्षा हुई है सुरत्नार्य वारी,
भला नाम सामायिकाचार धारी ॥१०॥

दिने सातवें बार बुद्धे विशुद्धे ।
बड़े दीक्षितों में हुए हैं प्रबुद्धे ।
कराई गई है विधी पूर्व तुल्य ।
"करेमी" ठिकाणे छजीवण्य मूल्य ॥११॥

इसी भांति दीक्षा ग्रही चान्द स्वामी ।
स्पृहा दीर्घकालीन है पार पामी ।
बने हैं गुरु के कृपापात्र आप ।
गुरुभाइयों की तथा प्रेम छाप ॥१२॥

छंद—कवित्त

ले के जैन दीक्षा कीनो, शिक्षा को ग्रहण ठोस,
साहित्य औ व्याकरण, विषय नवीनो है ।
जैनागम बोलचाल, थोकड़े अनेक सीखे,
तीखी बुद्धि उपयोग, जाणपणो भीणो है ।
सुन्दर अक्षर लिपि, सफाई अनोखी दिपी,
मन-वच-काय-योग, गुप्ति स्थिर तीनों है ।
गमन भाषण और, एषणा आयाण-भंड,
परिट्ठावणिया पंच, साधु समीचीनो है ॥ १ ॥

महाव्रत पंचक में, रंच क ना खंच कहुं,
सबे काम जयणा सों, आप अनुसरे है ।
दशों ही उत्तरगुण, रस लेय रात दिन,
देख-देख सभी जन, जस अति करे है ।
ज्ञान ध्यान सीखे और, औरनि सिखाय रहे,
आपणो परायो नित्य, ज्ञान घट भरे है ।

गुणी और गुणवान, साधु सन्त [illegible] भी,
शुद्ध आत्मा [illegible] [illegible], शिष्य [illegible] करते हैं ॥ २ ॥

बड़े सन्त गुरुजन, और सब छोटे मुनि,
लगते सभी [illegible] आप, [illegible] के चन्द से ।
[illegible] सदा ही शुद्ध, [illegible] [illegible] बिन,
सार-सार धार लीनों, अष्टमी आनन्द से ।
कला साथ कलंक भी, बढ़ाता लौकिक शशी,
आप निष्कलंक नित्य, दायक आनन्द से ।
पूर्णिमा की ओर सदा, प्रगति प्रमाद बिन,
कषाय की लाय पर, शीतल निष्यंद से ॥ ३ ॥

दोषा नाम रात का है, उसी का करवे वाला,
दोषाकार होने से वो, आकर है दोष का ।
मित्र अवसान में ही, उदित होता है वह,
आपका सदैव उदै, मित्रता में होशका ।
वह तो है अविरत, आप हो विरत नित्य,
उसका वियोगिनी पै, रहे भाव रोष का ।
अन्तर बहुत रहा, दोनों ही चांदों के बीच,
तभी मार्ग आपका है, सुख भी सन्तोष का ॥ ४ ॥

सातवें आचार्य पूज्य, भीषम के शिष्य मुनि,
कानमल्ल गुरुजी के, वियोगी पधारे हैं ।
गुरु देव नथ मल, उदार सुधारवादी,
अध्यापन कराय के, योग्यता बधारे हैं ।
आपकी बड़ी है भक्ति, मित्रता उन्हीं से शुद्ध,
गुरुभाई गण तहां, प्रमोदता धारे हैं ।
पदवी दिराई उन्हें, अष्टम आचार्य किय,
स्वामी नाथ सब साथ, प्रभाव पसारे हैं ॥ ५ ॥

सभी बात सावजोग, पै व्याख्यान बांचे नाही,
गुरु गुरु भाई आदि, सब करे प्रेरणा।
मन मांहि भ्रम एक, ऐसा बैठ गया है कि,
या ते अभिमान आते, लगे कुछ देर ना।
मुहूर्त दिखाय कर, नवकी कियो दिन पण,
टालने को ताहि माला, महामंत्र फेरना।
कीनी समझास अति, धरम कथा की रति,
उपजी न मन नेकु, या मे सार फेर ना ॥ ६ ॥
तीर्थंकर नाम कर्म, बांध कर जिन बने,
उनके तो वाणी ही ते, निर्जरा विशेष है।
कषाय प्रथम गई, मान रत्ती रह्यो नहीं,
मोहिनी अज्ञान मयी, खई जु अशेष है।
वाणी के पैंतीस गुण, प्रगट भई है धुन,
काय योग-मुद्रा चुन, हाव नहीं लेश है।
भाव औ विभ्रम नहीं, विलास की चेष्टा नही,
दूर जाती रही किय, आत्म में प्रवेश है ॥ ७ ॥
साची बात तीर्थंकर, मौन राखे छद्‌मस्थ लो,
पण विन बोले कांई, कदि मुक्ति गति जावे ना।
सामान्य मुनि जो कोई, सदा काल मौन राखि,
निरवाण होवे ताको, कोई अटकावे ना।
इती बात पे न दोनों, एककल्पी कहीजते,
मौनी छदमस्थ भाषा, समिति बतावे ना।
आणा अनुसारी सारी, करत प्रवृत्ति फिर,
एक यहां आते बात, बाकी तो रखावे ना ॥ ८ ॥
इसी विधि अनेक ही, बात कही बिना मन,
शुरू कियो भाग्य योग, व्याख्यान को बांचणो।

तथापि पणी ही बारे, टामके अंकुश आप,
राख सेवा मनसतोष, आतमा में राचणो।
गुरुदेव ढील छोड़ी, गुरुभायाँ मन राख्यो,
उपाय सरल और, कदियक आंचणो।
अपणे उपावणे सूं, शायद ही काम सरे,
परिस्थिति पावणे सूं, मिटसी यो सांचणो ॥ ९ ॥

उगणी से छियंतरे, माघ वदि पंचमी को,
गुरुदेव जोधपुर, स्वर्ग को सिधारे हैं।
आप खुद सबे विधि, योग्य और गुणवान,
गुणाकृष्ट गुरुजन, महर अपारे हैं।
गुरुभाई मित्रजन, पूज्य कान्ह पूर्ण प्रेमी,
और सब गुणीजन सहयोग सारे हैं।
लघु मुनि सती वृन्द, श्रावक समाज पुनि,
भक्ति भरे तो भी गुरु, गौन दुख भारे हैं ॥१०॥
सितंतरे चौमासो ह्वो म्हामंदिर कान्ह सह,
जोधाणे में स्वामिवर्य, दयाचन्द राजते।
बाबा गुरुराज स्वामी, थाणापति अन्य संत,
आने जाने वालों सह, सुखसाता साजते।
वातनि अनेक जोग, साचवत सब तोग,
लाग को संजोग सेवा, छटा खुब छाजते।
गुरु के वियोग हू को, प्रथम ही वर्ष यह,
पूरण भयो है ऐसे, गाजते औ बाजते ॥११॥
इठंतरे साल मांहि, चौमासे की विनतियां,
नागौर-कुचेरा-पाली, सोजतादि संघ की।
सेठ जी की रीयां और, पास में पीपाड़ शहर,
संत सती यथायोग्य, राखी बात रंग की।

कुचेरे में आप खूद, कान्ह पूज्य चोथ स्वामी,
रीयां क्षेत्र संत योग्य, यही बात ढंग की ।
तब सब पूर्वापर, विविध चिन्तन कर,
आपकी अमवानी में, विनति है संघ की ॥१२॥
मित्रवर्य पूज्य कान्ह, आपके वक्तृत्व हेतु,
अलग चौमासा जैसी, उपजाई योजना ।
समाज करणधार, आखिर होना है इन्हें,
छायेंगे सभा में कैसे, पड़ेगा जो बोझ ना ।
निज शिष्य लघु चैन, मुनि सौंप सेवा मांहि
रीयां के चौमासे भेजे, खरी करी योजना ।
वाह-वाह ऐसे पूज्य, धन्य-धन्य सूझ-बूझ,
आप जैसे मित्र बिना, मित्रता की मौज ना ॥१३॥

दूहा

रीयां क्षेत्र अति राजतो, अवर घरां री जोड़ ।
श्रावक श्राविका सांकडा, करे न दूजो होड़ ॥ १ ॥
आप प्रबल बलि ओपता, चतुर लघु मुनि चैन ।
जीत विरागी साथ जस, आगम पाठन ऐन ॥ २ ॥
स्व समुदायी विनय सिख, चंदन स्वामी संग ।
सरल सुभावी पर न सहू, अद्वितीय अभंग ॥ ३ ॥
कंठकला मधुराकृति, व्याख्यानी विद्वान् ।
वर धुरहूंत विराजते, लह्यो स्हाज हर आन ॥ ४ ॥
सूत्र चौपाइ सुणावता, आपंता उपदेश ।
दृष्टान्त हेतु देवता, उपजत रुची अशेष ॥ ५ ॥
वरस इग्यारह विचरिया, गिरए गुरुवर छत्र ।
फेर गुरुजन फावता, अधिके प्रेम अमत्र ॥ ६ ॥
जस लीधो अति कुमति सूं, प्रथम वारिशावास ।
शहर पीपाड़ पधारिया, संत सती सोल्लास ॥ ७ ॥

निन्नाण् पीपाड़ चौमासे जीत सहित संचरिया रे।
धर्मध्यान को ठाठ देख जन अचरज भरिया रे ॥ १२ ॥
दो हजार में शहर नगीने तीन ठाणे पद धरिया रे।
धना मुनि और लाल मुनि सब जन मन हरिया रे ॥ १३ ॥
एके विरांटिये मेले वाले लगी धरम री झड़ियां रे।
दुए रायपुर बखत रूप युत गुरुभ्रातरिया रे ॥ १४ ॥
पांचा में बर तीन ठाणे सूं बीती आनन्द घड़ियां रे।
रूप मुनि गुरुभाई लाल लघु वखाण लड़ियां रे ॥ १५ ॥
स्वामी चौथ इण वरस नानणे पीड साथक उमरिया रे।
छक्के सोजत हुओऽपरेशन पण न सफलिया रे ॥ १६ ॥
लाल ढाल आ छठी कह दी गुरू बखत महरिया रे।
गुणवन्तां रा गुण गायां सूं अघ निर्जरिया रे ॥ १७ ॥

दूहा

साते महामन्दिर मधे, चौमासो सब साथ।
हुओ पीड़ उपचार पण, बढ़ती गई असात ॥ १ ॥
दो हजार आठा महीं, अमरसिंह समुदायि।
स्वामि नारायण प्रेम सूं, भेज्या श्रावक भाई ॥ २ ॥
अब के आप कृपा करो, भेज संघाड़ो एक।
लाभ चौमासो देवजो, क्षेत्र समदड़ी नेक ॥ ३ ॥
स्वामी चौथ संदेश सुण, कियो विचार उदार।
सेवामें दे लाल को, करा दियो विहार ॥ ४ ॥
धूनाड़ा होकर अजित, मिल नारायण स्वामि।
राणी दहीपुर आवतां, रह्या रात आरामि ॥ ५ ॥
छट्ठ आषाढ़ सुदी दिवस, प्रवेश समय मध्यान्ह।
पण प्रभात अज्ञानपन, स्खलना ह्वी असमान ॥ ६ ॥

पग तावकता पड़ गया, लगी बाम कर चोट ।
घुमके अस्थि भंग हुओ, पीड़ भई भर पोट ॥ ७ ॥
आगी दूर अरूर पण, ज्वराक्रान्त शरीर ।
चलने लगे स्वाभाविकी, गति से मन कर धीर ॥ ८ ॥
वही गति गज की तरह, मुखमुद्रा पर शांति ।
कोमलता वह कायिकी, छुपी कहाँ प्रशान्ति ॥ ९ ॥

छंद—सवैया

तपती धरती गरमी बरसे, बरसा इक बूंद नहीं बरसी ।
वर आतप सो तप के सिकता, भड़भुंजिय भाड़ जिसी तरसी ।
सब श्रावक और सराविका तो, चलते लगते पदपोष वशी ।
हम साधु अनावृत पैर द्वयी, अपनी सहनात्मिक शक्ति रसी ॥ १ ॥
जलते उस रोज लखे पद तो, मन मोहि अनेक विचार उठे ।
जलती नित ही इस भाँति क्षिती, अथ आज इते सुफुलिंग उठे ।
वह अंगन मंगन जाय किते, जित ठंड मिले कुछ चित्त तुठे ।
वह गोबर पत्र तृणादिक शुष्क दिखे नहि किंचित काठ ठुठे ॥ २ ॥
इतनी महती धरती दिखती, पर पैर सुठौर दिखी न कहीं ।
कई लोग कहे पग शीघ धरो पर चाल अहो ! दिखलाइ नही ।
सुर भाँति चलू चतुरंगुल ऊर्ध्व प आई नही तुजनी सु मही ।
खुद सोवन कंज धरो पग धन्य हमें जिन ! नीति बताइ यही ॥ ३ ॥
चित्त केन्द्रित था सुव्यथा निज पे नहि ख्याल रती किम पैर चले ।
वर दीठि परी मुनि चांद प्रति पर शान्त नितान्त सुसौम्य भले ।
मति मंद वही निसपंद सही यह क्या इनके पग नाँहि जले ।
मनु कल्पित एक विकल्प अरे परते चरणांबुज शीत जले ॥ ४ ॥
अथवा मथुरेश्वर शंख मुनि हथनापुर चारि कदा विचरे ।
पथ पूछत सोम पुरोहित तो अगनी पथ की कुदिशा उचरे ।
जन कोई धरे पद ता पथ तो बहुधा मरते कहते परे ।
पण पैर परंत मुनीश्वर के पथ शीत भयो सु नदी सर रे ॥ ५ ॥

दूहा

वर्ष तीस सेवा करत, बीते पर उण वक्त ।
ज्ञात हुआ मुनिराज ए, मन आसय यूं सक्त ॥ १ ॥
देख धैर्य स्वामी जी को, मैं मन कियो विचार ।
धन्य इणांरी साधना मैं भी लेऊं धार ॥ २ ॥
होणो ज्यों होसी परो, चलूं ठीक सर चाल ।
समझायो समज्यो न मन, उदय भाव के जाल ॥ ३ ॥
इतेक छाया आ गई, कियो ग्राम प्रवेश ।
म्हारी तो बाजी रही, मिट्यो औष्ण्य को क्लेश ॥ ४ ॥
सेवा करी सरावकां, सभी भांति सुखकार ।
खोड़ रह गई हाथ में, करतां कई उपचार ॥ ५ ॥
चौमासो उतर्यां कर्यो, खांडप तरफ विहार ।
मोकलसर सीवाणगढ़, मड़ जालोर पधार ॥ ६ ॥
फिर जोधाणे आवतां, कोटड़ी औ, करमाव ।
मजलो मजल पधारिया, वसंत पंचमी साव ॥ ७ ॥
स्वामी चौथ वख्तावर, बड़ गुरुभायां भेट ।
विरह महीना आठ को, संचित दियो जु मेट ॥ ८ ॥
लघुतर गुरुभाई जरत, सुद छठ रूप मुनीश ।
काल कियो गति आयुपुर, अखिलहि रहे अनीश ॥
स्वामी चौथ सहिष्णु मन, ज्ञान वृद्धि कर सार ।
व्याधी अति बधती गई, अफल रह्या उपचार ॥
गंभीर जानु अर्बुदा, केंसरादि कह नाम ।
जिसने जो समझ्या कह्या, किया उपाय तमाम ॥
लेप दाव तपावणा, सेक इलेक्ट्रिक चीर ।
यंत्र मंत्र मांत्रिक सकल, कह्यो बात ओपरेशन चीर ॥

जीवन है संग्राम एक कब कैसो बिरियां आवे रे।
इण कारण सब जाग्रण रो ओ अवसर नहिं गमावे रे।।
आओ असंशये रे।। ६।।

है तकलीफ पण आवो जितरे म्हारो कांइयन होवे रे।
कम ज्यादा री बात अलग पण आयुष तो नहिं खोवे रे।।
म्हनें ऐसो निश्चये रे।। १०।।

गज गति चलजो स्व में पर री पंचायत न कराजो रे।
आगम सम्मत निर्णय ह्वे तो थे स्वीकृत कर आजो रे।।
भोलावण यूं दये रे।। ११।।

आखिर आज्ञा मुजब ठाणा त्रय आप विहार आदरिया रे।
पाली पधारत मुनि कई मिलिया पंजाबी मरुधरिया रे।।
प्रेमीवर परिचये रे।। १२।।

गांवो गाँव विचरतां करतां कइ आगे कइ लारे रे।
मेरवाड़ी मेवाड़ी मालवी महाराष्ट्रिय परवारे रे।।
हुवो सादड़ी मुनिमये रे।। १३।।

गौमत गुरुकुल माँहे उतरिया नीचे ने वलि ऊंचे रे।
निकट ठिकाणे सन्त विराज्या समय उपर सब पहुंचे रे।।
बैठक ह्वे तिसमये रे।। १४।।

मिलिया हो तो कुछ कर विछड़ां मुख्य लक्ष थो यो ही रे।
नहिं परिपक्व परिस्थिति जिणसूं जो हुओ भलो थो सो ही रे।।
मन कीनो सन्तोषये रे।। १५।।

आखातीज ने शुरू हुवो ने सुद चवदस तक चलियो रे।
बारह दिन छत्तीस समितियां विचार विनिमय फलियो रे।।
सब हुवो शांतिमये रे।। १६।।

[illegible] अतिथिविल सूं किया [illegible] आवे रे ।
शची नीत लाग [illegible] मधुकर यथायोग्य [illegible] रे ॥
मन समता उमये रे ॥ १७ ॥

लाल डाल सातवीं मांहे सब विस्तार संकोची रे ।
वर्णन कियो सम्मेलन रो हल प्रज्ञा जहां तक पहोंची रे ॥
मुनि विहरे फिर भये रे ॥ १८ ॥

दूहा

पाली आवत सुण लियो, जोधाणे तकलीफ ।
उग्र विहार सु-आदरी, पहुंच्या मानु हरीफ ॥ १ ॥

वर्यो ईलाज सुवैद्य रो, मुख सूं काढू रोग ।
उदीरणा हुई आपरी, पण फलियो न प्रयोग ॥ २ ॥

वधी जिणी सूं वेदना, जन सूं लखी न जाय ।
धन्य शान्ति समता धणी, स्वामी चौथ लखाय ॥ ३ ॥

सम्मेलन री बात सब, सुण सन्ता रे पास ।
यथायोग्य अभिप्राय नित, सीमित कियो प्रकाश ॥ ४ ॥

सहमन्त्री हस्ती मुनि, भू.पू. पूज्य रत्नेश ।
मिलिया वधियो मोद मन, बात करी तुर्येश ॥ ५ ॥

वर्षावास नागौर कुछ, जावण करजो जेज ।
जाण योग्य है आपरे, कहूं बात सहेज ॥ ६ ॥

आयुष्यी आलोयणा, सामायिक सब सार ।
वद आषाढ़ छठ शुक्र दिन, स्वयं कियो संथार ॥ ७ ॥

दूजे दिन मुनि महासती, दरसन आये दौर ।
कौम छत्तीस भी कोड़ सूं, प्रचुर उमड़ते पौर ॥ ८ ॥

नवमी निकट बुलाय के, मुख्यमायादिक संत ।
स्वामी जी शिक्षा कही, शान्ती समता वन्त ॥ ९ ॥

राग-द्वेष मत राखजो, साधु श्रावक साथ।
क्षमतक्षामणा खांत सूं, करजो अन्तर भाव ॥१०॥

सभी मुनि इण बात पर, कह्यो तहत्ति प्रमाण।
विरह कातर वाणी वदी, जिणरी इणविध आण ॥११॥

कला—आठवीं, तर्ज—हां ! मति कर गर्व

हां ! चांद मुनि अर्ज गुजारी, सुणे चौथ गुरुभाई सारी।
सुणे उभा सब सन्त शांत मन रख इकतारी रे ॥ टेर ॥

आप एकदम अनशन करियो, शिक्षा वचन एक उच्चरियो।
यथायोग्य प्रेम नहीं वरियो,
वरियो रती न ध्यान मोह ममता ही निवारी रे ॥ १ ॥

तीर्थंकर था वीरजिनेश्वर, वे भी मोक्ष जानके अवसर।
दिवी भोलावण सोलह प्रहर,
कह्यो न कुछ भी आप तोड्यो ज्यूं तृणां बुहारी रे ॥ २ ॥

वां रे तीस वर्षां री संगत, अठे बणे अधिकाधिक रंगत।
वे वीतराग इत रागी अंगत,
देता प्रथम चेताय कही नही बात क्रिया री रे ॥ ३ ॥

स्वामी कह्यो कांई मैं कहेतो, सभी बात हो सुजाण थे तो।
दुनिया ने कहो चेतो चेतो,
वांचो सरस वखाण बात नहि कोई विकथा री रे ॥ ४ ॥

वे गौतम ने मेल्यो आगो, मैं वैसो नहिं तोड्यो तागो।
उते कर्म इकतरफो लागो,
अठे दोनुं ही समान नहिं कोइरी अधिकारी रे ॥ ५ ॥

म्हारो तो है इक ही कहणो, अपणा आत्म मस्त मांहे रहणो।
हुं जैसो समभावे सहणो,
राग-द्वेष नहिं राख रेजो थे समताधारी रे ॥ ६ ॥

संस्कृत प्राकृत जाणो हो थे, [illegible] वेद सिखाया हो थे।
आगम [illegible] समझायो हो थे,
　　　कमी [illegible] कोइ [illegible] जाणे [illegible] भारी रे ॥ ७ ॥
अब म्हूने इक [illegible] बतावो, कमी रही तो म्हनें बतावो।
यही नहीं [illegible],
　　　म्हें कियो म्हारो काम जैसी थी बुद्धि म्हारी रे ॥ ८ ॥
बस, अब इण में ही है सार, थे मन माही रखो करार।
मंत्र सुणावो श्री नवकार,
　　　श्रमणालाल कही ढाल आठवीं हिम्मत भारी रे ॥ ९ ॥

दूहा

वा शासन री उन्नति, आगंतुका री भीड़।
ओ उमंग उत्साह अति, जाणी गई न पीड़ ॥ १ ॥

मेलो रहतो मंडियो, संथारा री सेव।
त्याग वरत पचखाण री, उत लागी अहमेव ॥ २ ॥

शुभ आषाढ़ तृतीया तिथि, आई घड़ियों मांय।
बजिया तीन निशि तोस पुनि, मिनट कुछ क अधिकाय ॥३॥

देह आतम तज दियो, भलो समाधिभाव।
दिन तेरह से दीखतो, अनुपम अन्तर्भाव ॥ ४ ॥

हो य न कल्प्यां हिये, इणरो नहिं उपाय।
स्वामी बख्तावर उपर, वजन पड्यो अति आय ॥ ५ ॥

दो हजार नव को कियो, महामन्दिर चौमास।
कारण पड़ियो विहरिया, हीरा [illegible] ॥ ६ ॥

कारणीक शरीर सूं, रुकणो पड़ियो तब।
आखिर [illegible] हुओ पछे, घना मुनि [illegible] ॥ ७ ॥

ठाणा चार विहार किय, [illegible] दिस नागौर।
[illegible] ॥ ८ ॥

मन्त्री पन्ना स्वामी के, प्रतिनिधित्व के रूप।
जीत मुनि, मुनि लाल को, भेजे गये अनूप ॥ ९ ॥
आप बड़े गुरुभाई श्री, बख्तावर दोय ठाण।
गांव खांगटे आगये, विनति करी प्रमाण ॥ १० ॥

कला—नवमी, तर्ज—मोटी हो जग में मोहिनी

सोजत मन्त्रीमंडले नव मासे हो अवलोकन कीन।
सादड़ी निर्णीत नीति में संशोधन हो परिवर्धन लीन ॥ १ ॥
चांद चरित्र सुहामणो भवि सुणजो हो मन गुणजो ज्ञान।
समकित निर्मल होवसी और आखिर हो पद ह्वँ निर्वाण ॥ २ ॥
चौमासा निर्णय हुआ क्षेत्र दानों हो लाभान्वित होय।
स्वामी बखत मुनि लाल सूं हरसोलाव ठाणा दोय ॥ ३ ॥
आप विराज्या खांगटे गुरभाई हो सह लघु मुनि जीत।
दो हजार दश वर्ष रो सुखपूर्वक हो वर्षालो बीत ॥ ४ ॥
शेषकाल में विचरता चउ ठाणा हो आया जोधाणा।
उदैमन्दिर विराजिया स्वामी नारायण हो प्रेम पिछाण ॥ ५ ॥
विचर्या ठाणा दोय सूं कोइ दीक्षा हो सतियां साथीण।
महासती मेहताब जी प्रशिष्या हो दरियाव नवीन ॥ ६ ॥
स्वामी बखत नारायण सूं निज-निज हो ले शिष्य संगात।
घुनाड़ा दधारिया चउठाणा हो वर प्रेम प्रभात ॥ ७ ॥
समदड़ी ठाणा दोय सूं बख्तेवर हो शिष्य लाल समेत।
वीर जनम कल्याण के ग्यारह दो हजारिय चेत ॥ ८ ॥
वद बैसाख बुध चौथ ने कियो ठाणा हो दो सूं विहार।
फिर घुनाड़ा आवता मुनि लाल ने हो पथ मोच विचार ॥ ९ ॥
मारग में दिन लागिया अक्षयतृतीया हो घुनाड़ा थाय।
पाली पधारण भावना दोय विहरिया हो देवाणदी साय ॥ १० ॥

मांडावास पधारतां तन वेदन हो असाता होय ।
स्वामी बख्त आतम बली सेवाभावी हो आंबक बहु जोय ॥११॥
शिष्य लाल दीक्षा पछे गुरुवर हो तन-मन बेसुध ।
बाकी सब साता हुती पण बस्ती हो साधन अवरुद्ध ॥१२॥
आप गांव कइ फरसता आया पाली हो जोवंता वाट ।
मांडावास री ठाह पड़यां दोय ठाणे हो आया पथ काट ॥१३॥
गुरुवर स्वामी बख्त ने मन उपजी हो उण बखत समाध ।
अबे चान्दमल आ गयो कह्यो मिटगी हो अब सर्व उपाध ॥१४॥
संघ आयो जोधाण रो पुर पाली हो सोजत नवसेर ।
लूणी संघ आग्रह कियो आप आवो हो करो नजदीक म्हेर ॥१५॥
नानणो संघ सेवा करी रह्या साथे हो चउठाण विहार
लूणी नदी पाडोस में गांव चवो हो सबविध सुखकार ॥१६॥
कारण सूं थिरता रही हुई साता हो दोयां रे सर्व ।
आप खूब सेवा करी गुरुभाई हो पण अगर्व ॥१७॥
दो हजार ग्यारह तणो वरसालो हो हुओ पुर जोधाण ।
नवमी ढाल पुरी हुई सुणउपजे हो मन सौख्य रसाण ॥१८॥

दूहा

चौमासो उतर्यो तदा, काकरिया के बाग ।
बड़ गुरुभाई बख्त के, आंख इलाज की लाग ॥ १ ॥
सफल हुवा सूं विचरिया, पुर पीपाड़ की ओर ।
रायपुर पधारिया, हर्ष्यो गांव हिलोर ॥ २ ॥
दो हजार बारह बरस, किशनगढ़ चौमास ।
ठाणा चार पधारिया, हुओ हरस उल्लास ॥ ३ ॥
दो महीना था भादवा, वर्षावास सवाय ।
धरम ध्यान अभ्यास में, बैसोहि लाभ लिराय ॥ ४ ॥

स्वामी बखत बिलावला, परम सम्बन्धी ज्ञान।
श्रावक श्राविका सर्व रो, प्रेमभाव असमान ॥ ५ ॥

पर्यूषण रो ऊठियो, श्रति हि उलझियो पेच।
प्रथम दुतिय भादव करो, लगी जो खेचाखेंच ॥ ६ ॥

सम्मेलन सादड़ी तणो, ऐसो निर्णय लीन।
जदपि बहुत्व है प्रथम को, स्वागत अल्प्य मत कीन ॥७ ॥

हेतु हुतो इण मांहि इक, खेंचनिकों की खींच।
खातिर द्वार खुलो रख्यो, आगत स्वागत सींच ॥ ८ ॥

पण सोजत शीर्षक समिति, कियो न संघ प्रवेश।
ता ते वही प्रस्ताव कछु, रह्यो समर्थ न लेश ॥ ९ ॥

खुद समर्थ असमर्थ किय, पर मानत निज बात।
अनुगत मत रक्षा विधि, मन अचरज उपजात ॥१०॥

कइ कह्यो सोजत ही में, बहुमत लावो ऊर्ध्व।
अबे अल्पमत राखणो, माने तनिक न मूर्द्ध ॥११॥

कइ कह्यो न करो अभी, मंत्रीमण्डल माय।
चालण दो है ज्यूं ही फिर, बृहत्समेलन तांय ॥१२॥

तब कोइ मुनि बोलिया, इणरो कांई लाभ।
तो मैत्री सम्बन्ध को, प्रगट्यो अन्तरगाभ ॥१३॥

जिणसूं बात रही जमी, जिको लग्यो अब जोर।
नई-नई तर्कां उठी, मुनिजन मानस कोर ॥१४॥

कला—दशवीं, तर्ज—वार वार में क्या

कोइ कह्यो जब तक है चालू तब तक तो मानो।
बृहत्सम्मेलन स्थगित कियां सूं होसी स्वयं हानो ॥
कोई कह्यो प्रस्ताव हुश्रो पण अवसर अब आयो।
एकबार पालन कर उणरो दो जन दरसायो ॥

परिस्थिति वश दुतिय भादव का पर्यूषण ठहर्यो ।
तब स्वामी गुरुदेव बसत मन उठी यूं लहर्यो ॥
बोल्या मैं तो प्रथम भादव में करण चाहूं आई ॥ १ ॥
सुनकर आप विनय जुगती सूं ऐसी फरमाई ।
सब सूं अलगा रहणा री आ मन में क्यूं आई ॥ टेर ॥

स्वामी जी फरमायो मुझ मन इसो विकल्प आयो ।
इता वर्ष भो कर्यो पजुषण यदि दूं छिटकायो ॥
दुतिय भादव सांवत्सरिक पर्व तक तन यदि चल जायो ।
तो जीवन री सर्व साधना दूषित ही थायो ॥
म्हारो तन है कारणिक सो थाने ही दीसे ।
इण कारण दो मुझने छुट्टी नही राग रीसे ॥
तजणो नही यावन्न सभी को निर्णय ह्वे स्थायी ॥ २ ॥

युक्ति सहित सुण स्वामी जी ने मुनित्रय यों सोचे ।
ये तो बातां निर्विवाद है यां ने कुण पहोंचे ॥
एक सघाड़े दोय सांवत्सरिक लोग कांइ कहसी ? ।
सामाजिकता आध्यात्मिकता दो में किसी रहसी ॥
द्रव्य क्षेत्र काल और भावां बात उचित लागे ।
पहला भादव मांय पर्यूषण रेवेला सागे ॥
की पांचव की चौथ कालिकाचार्य ग्रंथ मांइ ॥ ३ ॥
एक जिज्ञासा उठी मन में उत्तरगुण ह्वे तो ।
अनागत अतिक्रान्त दोनों ही नहीं अटके ह्वे तो ॥
स्वामी जी कह्यो वा बात साधारण व्यक्तिगत जानो ।
पण सामूहिक परम्परागम इणने ये मानों ॥
मैं नहि हूं नाराज जरा भी मनसा जो थांरी ।
विचारधारा तन परिस्थिति पण मैं तो कही म्हारी ॥
संघ किशनगढ़ करी विनती हां सब साहायी ॥ ४ ॥

निश्चय लीनो प्रथम भादव में करिया पर्यूषण।
धर्मध्यान उत्साह उमंग की आत्मा निर्दूषण ॥
सांवत्सरिक पारणो आयो स्वामी फरमायो।
आगे भाव करणे रा वरते उमंग मन आयो ॥
राग भाव को काम कठिन है आप मौन राखी।
जीत लाल कह्यो आप कृपा करो आगे है पाखी ॥
किया पारणादिवस पारणो छद्मस्थता आई ॥ ५ ॥
बीत्या दिवस चार रविवारी दशमी दुतिय राते।
वधी वेदना बखत स्वामी तन वाणी फरमाते ॥
बस आई जावण री बेला आलोयणा सुणलो।
खमतखामण है ए छेल्ला नमस्कार गुणलो ॥
पच्चक्खाण तो चौविहार रा चालू है सारा।
अबे जावजीव रो पचखूं श्रो है संथारा ॥
बात करंतां वपु ही वरत्यो सब रह्या लखताई ॥ ६ ॥
रवीवार री घणा जणा तो पचखी छहकाया।
और कई यूं ही संवर कर सूता हा भाया ॥
अन्तिम दर्शन करिया सब ही बात एक बोल्या।
स्वामी जी पर्यूषण करिया रह गइ रंग रोलयां ॥
धर्मकाम ने पेहली करणो सभी सबक लीनो।
पछे सभी जन सुबह हुवां सूं करणो ज्यों कीनो ॥
मुनि चांद सिरछत्र ऊठियो कियो जाय कांइ ॥ ७ ॥
आर्तध्यान रो कारण बनगो मुनि मन यूं बोले।
स्वामी जी ने आगे बढ़ने में आपां कियो ओले ॥
नही लौकिक में आयो अनशन शासन भी दीप्यो।
हृदयराग भाव रो कारण दुखे जाय जीप्यो ॥

निर्णय कीनो अब कीनि ही ना कर्यां नाकारो।
लाल मुनि रे हृदय बहु बधो अति तीखो धारो॥
ऐसा सरल सबने ही ह्वाला गुरु मिलणा नांई॥ ८॥

वर्ष ग्यारह गुरु सहचारी गुरुजन अकलीसों।
विचरे स्वामी चांद विनय सूं अगणित गुण ईसों॥
वैरागी पुखराज भेजियो पन्ना जी सतियां।
जिसो नाम गुण भी है वैसो सेवा सन्मतियां॥
किसनगढ़ बखत स्मृति की पुस्तकालय स्थापी।
असांप्रदायिक काम संघ ने किया प्रेम व्यापी।
चौमासो उतर्यां सूं विहर्या हरमाड़ा तांई॥ ९॥

साधु सम्मेलन भीनासर रो आमंत्रण आयो।
उण दिशि हुओ विहार कोटा को संघाड़ो पायो॥
वयोवृद्ध श्री रामकुमार जी महाराज राजे।
वृद्धिचन्द जी रामनिवास जी सेवा के काजे॥
रूपगढ़ पर्वतसर हो कर बड़ू मार्ग पाया।
कूचेरा नागौर ठहर कुछ गोगोलाव आया॥
देशनोक और नोखामंडी मुनिजन मिल जाई॥१०॥

दो हजार दशे चौमासे महारथी जोधाणे।
परामर्श कर वातां चर्चा अभी सभी ठाणे॥
मिलो जिका सब समझ-बूझ कर मान्य करो प्हेली।
फेर पछे भीनासर मांहे आवेला नहली॥
थली प्रान्त रा सब क्षेत्रों में भक्तिभाव आछो।
माया बायां साधु साधवियां नहिं जोयो पाछो॥
बीकानेर संघ आय कर विनति दरसाई॥११॥

मुनिमंडल तब विचार करियो अगर आपां जावां ।
आगे कोटड़ी मांय उतारे उठे जो नट जावां ।।
तो सब जाणो लिजाणो थां रो मतलब नहिं राखे ।
अतः बिकाणे जाणे री स्वीकृति नहिं भाखे ।।
स्थानक विषयक सादड़ी मांहे जो विधान बणियो ।
परिस्थिति वश उपाचार्य श्री उण ने इत हणियो ।।
तब बोल्या कोई बुधवन्ता करो हो आप कांई ।।१२।।

सांवत्सरिक प्रथम भादव में ज्यां मनवा लीनो ।
वां कोटड़ी को निषेधकारक विचार किम मीनो ।।
व्यक्तिगत मकान में उतरण जो नहिं है त्याग्यो ।
तो कोटड़ी में उतर जावो तो दोष किसो लाग्यो ।।
अध्यादेश आचार्य निकालयो उपाचार्य हेते ।
प्रथम भादवे पर्यूषण का भी निकला लेते ।।
जो जैसा हो उसे चला लो यह है अच्छाई ।।१३।।

चांद स्वामी ने फरमाया जरा और सोचो ।
यह निर्णय है पीछे हठ का पीछे से पहोंचो ।।
सादडी के कुछ तो सोजत में निश्चय गबड़ाये ।
यहां और उससे भी ज्यादा होगा दिखलाए ।।
जिसको जो भी छूट चाहिए वह यहां से लेगा ।
चला लेने वाला ही इसको यथेच्छ दे देगा ।।
सांवत्सरिक की वस्तु सकारण वहां पर गबडाई ।।१४।।

आखिर बिनति मान बिकाणे मुनिमंडल आया ।
विशाल स्थान से किया कोटड़ी मांहे उतराया ।।
सुशील आया कवि जी आये आये पंजाबी ।
शेष रहे मरुधरीय आये समर्थ समभावी ।।

सम्मेलन की भव्य भूमिका भीनासर भाये।
स्वागतार्थी जनता की लाइन सड़क दोनों भाये॥
नारे विविध भाँति के पोस्टर पोशाक दिखलाई॥ १५॥

स्थगित किया प्रस्ताव सादड़ी सांवत्सरिक वाला।
कोटड़ी गत प्रतिबन्ध कटे ज्यों वह स्थानक वाला॥
ध्वनिवर्धक की विधि के ऊपर अपवादिक आया।
बड़े छोटे सन्तों का अनुभव प्रसंग पर आया॥
कई समिति में कई विमति में कई समय असमय।
देख देख कर केई बातें उपजा है विस्मय॥
उपाध्याय मंडल कर कायम कमी जो पूराई॥ १६॥

मंत्रीमंडल शहर सादडी सविषय बनवाया।
प्रान्तवार इस समय बनाने का मन में आया॥
स्वामी चान्द से मन्त्री पद के हित आग्रह कीना।
प्रथम बार भी आप मायं सूं कोई नहीं लीना॥
दिया जबाब है स्वामी हजारी हम में से वृद्ध।
इन्हें बनाये आप मन्त्रिवर विनय वाणी विद्ध॥
पद की प्रियता कभी आपने थी नहिं अपनाई॥ १७॥

चातुर्मास की विनति वहां पर दिल्ली संघ करी।
किन्तु पदाधिकारी मुनि ने गढसीवाण वरी॥
वापिस किया विहार नगीने आये मुनि तीनों।
—हरसोलाव संघ विनति की धर्म-प्रेम भीनो॥
दो हजार तेरह वैसाख वद की दशमी मन्दा।
वैरागी पुखराज दीक्षा ली अभिध्यो शुभचन्दा॥
स्वामी चान्द के प्रथम शिष्य की पदवी है पाई॥ १८॥

बड़ी दीक्षा हुई जोधाणे धामधूम सागे ।
वैरागी पारसमल आयो धरम रंग रागे ॥
चौमासे गढसीवाणा रो शोभायो भारी ।
व्याख्यान वाणी धर्मध्यान रो आनन्द विन पारी ॥
दशमी ढाल लाल पूरतां वर्षावास विहर्या ।
मारवाड़ रा क्षेत्र फरस कर ब्यावर दिश विचर्या ॥
मगरो देवगढ़ हो कर के मेदपाट मांई ॥ १६॥

दूहा

देलवाड़ा पउधारिया, मोतीलाल महाराज ।
सन्त सांवठा मेटिया, प्रेम पुराणो स्हाज ॥ १ ॥
होली चौमासी करी, उदयापुर की ओर ।
शील सातम करी वहां, क्षेत्र स्पर्शना जोर ॥२॥
गोगुन्दा जसवन्तगढ़, फरसत अनेक गाम ।
आबू रोड़ खराडी हुय, पुर पालनपुर पाम ॥ ३ ॥

कला—ग्यारहवीं, तर्ज—मुंदड़ी

स्वामी चान्दमल जी महाराज उग्र विहारता जी ।
देता भव जीवा ने साज धर्म प्रचारता जी ॥टेर॥

आया सिधपुर और कलोल, पूगा अहमदाबाद की पोल ।
आई विनंतियां की ओल,
बम्बई अमरावती यूं दोय आग्रह धारता जी ॥ १ ॥

सूरत में जो पहली आसी, वे जन चौमासो पा जासी ।
निज पहुंचण री नीति प्रकाशी,
यों आश्वासन दे कर आप अग्र पधारता जी ॥ २ ॥

केई सहर बीच में आया, बड़ौदा बम्बई संकेत पाया।
पण नहिं अपणा वचन गमाया,
सूरत पहली बम्बई संघ सेवा स्वीकारता जी ॥ ३ ॥

विलेपारला विनति मानी, चवदह दो हजार वर्षांनी।
अमरावती जन दिवस दूजाली,
वां ने निराश जावणो पड़ियो विवशलारता जी ॥ ४ ॥

ठाणा चार वैरागी पारस, स्वामी चान्द वचन सुधारस।
बम्बई संघ बड़ा ही वारस,
समदर संघी समुद्र समान काज कइ सारता जी ॥ ५ ॥

विलैपारला करियो प्रवेश, सबके मन में हर्ष विशेष।
स्थानक साता ऋतू अशेष,
जैसे होय तपोवन वैसे शान्ति वधारता जी ॥ ६ ॥

कवित्त

थानक विलेपारला को, लाखों मांहि लख्यो एक,
आंखों कहा ओपमा जो, जोडू पै जुड़े नही।
वन है नंदन किधों, चैत्य गुणशील किधों,
नंदन है छटा मन, मोरे पै मुरे नहीं।
तीन-तीन द्वार जाते, जनता त्रिपथगा त्यों,
आवत है ताकि धार, तोरे तो तुरे नहीं।
दूसरे थानक या की, शोभा को तरस रहे,
चाहत अनेक विध, चोरे पै चुरे नही ॥ १ ॥

द्वार-द्वार ठाड़े भांति, भांति के सुरम्य वृक्ष,
वात्सल्य ते अतिथि की, स्वागत करत है।
हरत है मार्ग श्रम, सुशीतल छांव देय,
गेय ध्वनि मधुरिम, वायु ज्यों चरत है।

गुणी को कदरदान, कूप जल पान हेत,
लेत है बलैया ल्हेर, स्वच्छ भक्तिरत है।
निगुणी अपात्र को भी, देख भो दयालु यह,
कलू को निवाण नल, ठाड़ो राखी सत है ॥ २ ॥

लागो साइन बोर्ड ज्यांसू, ठोड़ जड़ जाय झट,
नाम कड़वी बाई पै, मिठास कियो जोर को।
जात की विराणी पै है, दान छितराणी जैसो,
सेठ है खुशाल देखो, इण ही के तौर को।
दीखे बागवाड़ी है, गवाड़ी जंगी झाड़न की,
लगी होड छुवे मिल, आभा हु की कोर को।
इष्ट ते आवत चल, आय इत वेस्ट हु में,
सुन्यो जात कूजन, पिक टहूको मोर को ॥ ३ ॥

सिरे वारणा पे झाड़, पीपल विशाल ठाडो,
बोले मानो पल-पल, पी ले सौम्य रस को।
अन्दर उभय और, पुकारत सहकार,
मिले सहकार धारे, सम्यग दरस को।
चीकू के कहत झाड़, चिकने न बांधो कर्म,
अशोक कहत रखो, नित्य ही हरस को।
इनके सिवाय भांति, भाति के प्रफुल्ल पुष्प,
पोषते रहते चित, नित रस कस को ॥ ४ ॥

चारों ओर ठाढी शोभा, बाढ़िवे उमंग अंग।
मन हरनार है, कतार नारियल की।
गिनति के पत्र भले, शाखा प्रतिशाखा हीन,
छटा खूब छाजत है, झुंड श्री फल को।

कहे [illegible] [illegible], बन्दर की [illegible] पर,
और पै हजूर यां के, आगे जात हलकी।
पानी को जतन करी, जीवन को ढालने की,
करत हरेक सों या, बात है अकल की ॥ ५ ॥

सामने से ट्रेन कह, लगातार रैन दिन,
चार-चार लेन चाले, मानो चार गति सी।
आठ-आठ कर्म जैसा, आठ आहिला है घोड़ा,
दौड़ा-दौड़ करे रेल, जेज नहीं रति सी।
गाड़ी बिजली की कह, तार के आधार चाले,
दोनूं बाजू दुमुही सी, भागे है अछती सी।
एक पण समै हु को, चूको मत चेतन जो,
जिन्दगी है कहे मानो, जले एक बत्ती सी ॥ ६ ॥

कोई गाडी चाले फास्ट, आख भी न थमे जा पे,
स्टेशन अनेक छोड़, जंक्शन को लेवे है।
ता हू में भी भीड़ ऐसी, लटुबे बाहर लोग,
डिब्बों के ऊपर भी तो, केई बैठा रेवे है।
दोय डिब्बा जुड़े जठे, उभा कई जणा रहे,
पड़ण मरण डर, रति नहीं सेवे है।
गति आगति को दृश्य, दिखावे है भिन्न-भिन्न,
अब तो भुगती चाल, ज्ञानी जन केवे है ॥ ७ ॥

मोक्षमार्ग साधक के, प्रवचन-माता आठ,
घाट राखे नाहि तांके, पालन के काम में।
वैसे इत धर्मियों के, कह अम्बा हाजिर है,
वायु और ठंडक के, खास इन्तजाम में।

साधु साधवी की कह, प्राधि और उपाधि मिटे,
सेवाभाव राखे कान, धन्य आठों याम में।
दो हजार पांच साल, डेढ लाख रुप्यकों में,
ले के राख्यो थानक को, हमेशा हंगाम में ॥ ८ ॥

प्रतिवर्ष चातुर्मास होत, साधु साधवी के,
चले जैन शाला फिर, धार्मिक सिखाइबे।
संघ और बाकी सब, सुव्यवस्था राखी देखो,
कमेटी मिटिंगा करे, प्रेम को बढाइबे।
सन्त सती कोई कही, पढिबो जु चाहे ता को,
सब ही प्रबन्ध करे, सुपथ चढाइबे।
ऐसो ऐसो करे काम, सब ही को दे आराम,
शासन की सेव करे, उन्नति उपाइवै ॥ ९ ॥

दो हजार चवदे के, चौमासे में स्वामी चांद,
सान्धी सब लोगां सेती, धार्मिक आतमीयता।
सेवा मांहि "जीत" "लाल", 'शुभमुनि' ठाणा चार,
वैरागी 'पारसमल', धैर्य धरे णीयता।
साम्वत्सरिक पर्व को, व्याख्यान ह्वो कलाक नौ,
कही पूज्य जयमल्ल, कथा मननीयता।
प्रतिपूर्ण पौषध जो, कह्या एक सौ ने आठ,
सवा सौ से ज्यादा हुए, धर्म दर्शनीयता ॥ १० ॥

विल्लेपारला की संख्या, चौवीसमी आजू बाजू,
पूरब पच्छिम जा के, वैमानिक धाम है।
बी.बी. एण्ड सि. आई को, रेलवे है मध्य मांहि,
आजकल बोले या को, पश्चिम के नाम है।
वल्लभ भाई रोड पे, स्टेशन के नजदीक,
स्थानक को नम्बर, पेंसठ शभ ठाम है।

सभी बहु [illegible], बारी ज्ञान ध्यान हू को,
मौके पै मकान सब, भांति को [illegible] है ॥ ११ ॥

दूहा

शशि गुरु बच अंगी करी, एकादशी तैयार ।
श्रमण लाल इक्वीस मइ, गुणसठ ने गुरुवार ॥ १ ॥

कला—ग्यारहवीं, तर्ज—वही

पूर्यो चौमासा को काल, आए चींचपोकली चाल ।
उपाध्याय श्री प्यार विशाल,
रात्निक लाभ चौथ मन शुद्ध मिले प्रियता रता जी ॥ ७ ॥

शाकाहारी पार्टी विदेशी, संघ ने स्वागत किया शुभेषी ।
शोभा मुनियों की सुविशेषी,
आये कांदावाड़ी चांद नीति निखारता जी ॥ ८ ॥

श्रावक संघ श्रोता गुणग्राही, वर्षावास हृदय में चाही ।
आये मुख्य जवाहर शाही,
ले गए मेघदूत निज थान भाव भक्तिरता जी ॥ ९ ॥

बोहरा जी श्री दुलहराज, मुखिया बैंगलोर समाज ।
विनति आग्रह की सुखसाज,
इधर मुणोत महाराष्ट्र पालब पसारता जी ॥ १० ॥

बम्बई बैंगलोर मराठा, आग्रह तीनों का ही काठा ।
रख कर पूना का बिच पाठा,
करिवो उणी दिशा सुविहार कर्णाटक सूरता जी ॥ ११ ॥

बिच में आई है पनवेल, बांठिया श्रावक पुण्य सुवेल ।
आया बम्बइ का संघ गेल,
अर्जी गुजार रह्या इण भांत विनय बिचारता जी ॥ १२ ॥

समझ लो इसको ही अब पूना, सन्त आप मरुधर का जूना ।
आगे पड़सी भारम दूना,
मानो विनति अग्रिम आप भू न वधारता जी ॥ १३ ॥
तो भी राखण हेतु जबान, चढ़िया घाट खंडाला आन ।
पैंसठ वर्षीय वृद्ध जवान,
मन में उमंग तन की शक्ति अति विस्तारता जी ॥ १४ ॥
लोनावला पधारे आप, फागण वद गुरुवार प्रताप ।
स्थिरता दो दिन की मन माप,
पण नहिं अपने हाथ कुछ बात होवे होणारता जी ॥ १५ ॥
शुक्रवार का दिन मध्यान्ह, कायिक चिन्ता लाल निदान ।
बोले चांद स्वामी पुनवान,
ले जा मेरी यष्टि हाथ रहे सहारता जी ॥ १६ ॥
परन्तु भावी भाव प्रधान, बात न गुरुदेव की मान ।
जातां मार्ग हुई है हांन,
साइकिल एक्सीडेंट से पैर दक्षिण प्रहारता जी ॥ १७ ॥
इग्यारहवीं हो गई ढाल, बोले यहां पर यूं मुनि लाल ।
जो वरते गुरु आज्ञा टाल,
वां ने परतिख परचो शीघ्र मिले यह धारता जी ॥ १८ ॥

दूहा

नल की हड्डी टूटगी, लटक गयो पग लेख ।
मुझ मन भयो विचार अति, दशा करम री देख ॥ १ ॥
क्यों उल्लंघ् गुरु वचन, मन मसताइ राख ।
भण गुंण ने उपदेश दूं, आज हुवो सब राख ॥ २ ॥
पग टूटो तनपीड नहीं, पण मन अति उतपात ।
अब इण सायल होण में, कितरो दुख उपजात ॥ ३ ॥

कितरा दिन [illegible] मुनि, किस्यो हुवौ उपचार ।
खोड़ कदाचित रह गई, तो जोबन होसी भार ॥ ४ ॥
स्ट्रेचर मांहि उठाय के, लाया उवरण थान ।
मेलो मंडियो उण जएह, जैन अजैन सब आन ॥ ५ ॥
डाक्टर सरकारी कह्यो, अठे न होय इलाज ।
पूने ले जावो परा, मोटर केरे साज ॥ ६ ॥
सुनतां तत्क्षण में कह्यो, आ नहिं होवे बात ।
अनशन कर लेसूं परो, सुन सब जन अकुलात ॥ ७ ॥
देख हाल गुरु देव यह, अट्ठम तप चौविहार ।
ठाय ध्यान विराजिया, जप माला कर धार ॥ ८ ॥
मन उदास मुनि जीत शुभ, पार्श्व विरागी और ।
गुरु आज्ञा के भंग को, कितरो दुःख कठोर ॥ ९ ॥
छोरू कूछोरू हुवे, मायत कुमायत नाय ।
कई बार काना सुणी, सो साची आय दिखाय ॥१०॥

मैं कुपात्र मानी नही, हित री चित री आण ।
तो भी मायत तुरत ही, लिय अट्ठम पचखाण ॥११॥

वातावरण विलोक के, कीधो बम्बई फोन ।
आयो जबाव आवां हमां, जिते कुछ भी करो न ॥१२॥
मैं अनशन राख्यो स्थगित, पै स्वामी पचखाण ।
राख्यो अविचल ध्यान पुनि, गुरु धन्य गुण खान ॥१३॥
उवसग्गहरं उचारता, हुओ ध्यान मुक्त लीन ।
इतेक आयो डाक्टर, प्राइवेट प्रवीन ॥१४॥

टेम्प्रेरी कर प्लास्टर, कह्यो नेवी इत केम्प ।
हो जासी हर भांति सू, लग्यो तमसि ज्यूं लेम्प ॥१५॥
शुक्रवार की बात यह, शनि को एक्सरे होय ।
रविवार को आये प्रमुख, बम्बइ डाक्टर लोय ॥१६॥

कला—बारहवीं, तर्ज—म्हांके

संघ बम्बइ को आयो, भक्ति सवायो, सोहायो मन मांय ।। टेर ।।
डाक्टरी विधि प्रारम्भियो रे इलाज पुण्य प्रभाव ।
रवि-रवि आय संभाल लेवता मुखिया जन धर भाव हो ।। १ ।।
जो सुणिया सो आया दर्शन ने सब क्षेत्रां रा भक्त ।
संघ लोणावलो सभी तरह सूं स्वागत में रह्यो शक्त हो ।। २ ।।
चिट्ठी पत्री तार फोन सूं सुखसाता पूछन्त ।
सब ने बराबर जाव देयकर लिखताथा विरतंत हो ।। ३ ।।
पूना सूं पंडितजी मुनि श्री सिरेमल जी आय ।
सुणतां ही दो ठाणा सूं वे सेवा देण सहाय हो ।। ४ ।।
मास एक सूं धीमे-धीमे हड्डी ठिकाने आय ।
पट्टो बांध दियो चूना रो पैंतालिस दिन थाय हो ।। ५ ।।
केवल चित्त ही सूता रेणो सब ही काम तथेव ।
सब ही जणा सावधानी राखी सेवा मांय सदेव हो ।। ६ ।।
कांदावाडी चौमासा री बिनति करी मजूर ।
इलाज री सुविधा रे कारण रेणों नांहि दूर हो ।। ७ ।।
कोई कह्यो ठेला में ले चालो कोइ बाबा गाड़ी मांय ।
म्हारे मन डोली री जचगी गृहस्थ उठाय ले जाय हो ।। ८ ।।
पग-पग मन रेसी पछतावो कहसी लोग कुबोल ।
वायु विराधन वली सवारी ठीक नहिं यह डोल हो ।। ९ ।।
लोणावला सूं बम्बई दिशा में पाछो कियो प्रयाण ।
पुण्यपतन तो रह्यो नाम को मिलियो नहिं ओसाण हो ।।१०।।
पंद्रह रो चौमासो कांदावाड़ी मास ज पांच ।
फेर पजुसण री तो लागी संघ में खेंचाखांच हो ।।११।।
उपाचार्य श्री अंतरंग में देख निजी कुछ हान ।
राखी बात सादड़ी वाली टूटी जिणसूं तान हो ।।१२।।

उपाध्याय गज और आनन्द मंत्री पान्ना मिश्रीश।
चारों मिल के लीनों निर्णय जिण में राग न रोस हो।।१३।।
सांवत्सरिक समिति ही रहसी निर्णायक इण हेतु।
आचार्य और उपाचार्य दोनों रहो इणसूं रहेतु हो।।१४।।
प्रथम किया इण हेतु पजूषण पण दूणो धर्मध्यान।
हुबो इलाज सविधि सम्पूर्ण पंच समवाय प्रधान हो।।१५।।
खोड़ रही नहिं कोइ बात री सुफलिया सब ही प्रयास।
स्वामी चान्द प्रसन्न देखकर मुझ मन अमित उल्लास हो।।१६।।
ढाल बारहवीं कही इस तरह बम्बई फरस्यो फोर्ट।
क्षेत्र स्पर्शना साल सोलह रो चौमासो उण कोट हो।।१७।।

दूहा

कांदावाड़ी चौमास की, उपलब्धियां अपार।
तन मन धन त्रिवेणी सूं, साता हुइ सुखकार।। १ ।।
ज्ञान ध्यान प्रश्नोत्तरा, शंका ने समाधान।
विचार वाच वचावतां, पायो ज्ञान निधान।। २ ।।
तपसी रामजी वीरजी, श्रावक सतरा गोत।
ज्यांरी तपस्या देखकर, मुझ मन ह्वो उद्योत।। ३ ।।
वह शान्ति वह प्रसन्नता, वह ज्ञान अभ्यास।
वह दिन रात स्वाध्याय रति, वह तापस उल्लास।।४।।
पूर्वभवीय सबध को, स्वामी चान्द के साथ।
प्रगट्यो पुण्योदय थकी, विधि पकड़ायो हाथ।। ५ ।।
मोहमयी मे तीसरो, चौमासो हो कोट।
दो हजार सोलह विषे, बधी धरम री पोट।। ६ ।।
परिचय बधियो प्रेम रो, जिज्ञासु जनता हि।
अति आग्रह अमरावती, दिशि स्वामी विहर्याहि।। ७ ।।

कला—तेरहवीं, तर्ज—मेम जी की जान

स्वामी श्री चान्द सुखकारी, मही महाराष्ट्रिय पदचारी।। टेर।।
साथ में गुरुभाई जीत, भतीज शिष्य लाल सप्रीत।
मुनि शुभचंद प्रकृति शीत, वैरागी पारस सुविनीत।।

नासिक आर्ता मिल गया, मुनि कल्याण ऋषीश।
रह्यो समागम सरल प्रेममय विमल सुविश्वाधीश ॥
तिथि सुदि चैत्र सतरा री ॥ १ ॥

लासलगांव धरम की स्कूल, क्षेत्र मनमाड़ खिलियो फूल।
नान्दगांव श्रावक अनुकूल, गांव कइ कोई न प्रतिकूल ॥

भूसावल में भाव सूं, रह्या एक दो रात।
वरणगांव होकर के आये जलगांव मेरू ख्यात ॥
पुण्य तिथि पूज्य जयकारी ॥ २ ॥

पाचोरा क्षेत्र है स्पर्शा, मलकापुर आवत संघ हर्षा।
नान्दूरा दर्शन कर सरसा, लाल पुनः आया तीस वर्षा ॥
खामगांव तो क्षेत्र है, मम प्रथम चौमासी।
उगणीसे सितियासी अन्दर स्वामी गणेश सकाशी ॥
पुराणी स्मृति जागी सारी ॥ ३ ॥

बालापुर बडगांव आये, सांदली बुजरक सोहाये।
मैंने (लाल ने) जहां संजम गुण पाये, भूमि जहां तीर्थभूत भाये ॥

आकोले चौमास था, तैंयासी के मांय।
बैरागी था उसी समय मैं गुरु गणेश बखत पसाय ॥
शील परिवर्तन संस्कारी ॥ ४ ॥

मूर्तिजापुर और बडनेरा, अमरावतीपुर आया नेरा।
चौमासा सतरा की ल्हेरा, भविक आनन्द हुआ ग्हेरा ॥

तपसी जी श्री राम जी, ठायी तपस्या जाण।
वातावरण बढ़ा धरम का, तपोधाम गुणग्राम ॥
शासन की महिमा विस्तारी ॥ ५ ॥

तेला का तप ऐसा फैला, अजैनों तक ने भी झेला।
उज्ज्वल किय आतम जो मैला, वृद्ध युव बालक अलबेला ॥

सभी लोग हर्षित हुए, तप:पूत किय देश।
दर्शनार्थ गम्य निकट दूर के उमड़े हर्ष अशेष॥
जिनागम वर्षा हुी भारी॥ ६॥

बाई तहां बाई उमराव, जिसी का टीटवा गाँव।
प्रज्ञामय नेत्र है साव, जिनागम पठन तीव्र भाव॥

उतर चौमासे विचरिया, फरस्या क्षेत्र अनेक।
चांदुर धामक और टीटवा जहाँ बहुत विवेक॥
मांगला देवी संभारी॥ ७॥

यवतमाल बाइस दिन थिरता, रालेगांव आये विहरता।
होली चौमासी जहां करता, धर्ममय प्रेम तत्परता॥

नागपुर की वीनती, मान्यो वर्षावास॥
विचर्या पांठरकवड़ा कांनी वणी धरम विकास॥
बच्छे प्रियता वरतारी॥ ८॥

नागपुर धर्म उद्योते, कटंगी के श्रावक पहोते।
विनति दीक्षा की होते, बीज जो धर्म का बोते॥

दुतिया जेठ एकादशी, सुद पख शनिसर वार।
वैरागी से मुनी बना है पारसमल श्रीकार॥
खिली हृत्कंज कलियां सारी॥ ९॥

जोड़ी शुभ गुरुभाई प्यारा, बडी दीक्षा हुई भंडारा।
चौमासा नागपुर धारा, छत्तीसगढ़ उमड़ा है सारा॥

द्विमासिक तप आदरा, तपसी रामजी आय।
समताधान क्षमा के सागर साधुजी के दाय॥
छाप सबही के सिर डारी॥१०॥

रायपुर छत्तीसगढ़ वारी, विनतियां मान सुविहारी।
भंडारा भलगट परिवारी, स्वामी त्रय ठाणा सुखकारी॥

आप वहां विराजिया, भेजा कुसमुत लाल।
राजनान्दगांव दुर्ग हो आये रायपुर चाल॥
आकर्षण इक्कीस दिन कारी॥११॥

ठाणे दो पीछे ही बिहरे, दुर्ग में कुछेक दिन ठहरे।
राजनान्दगांव के शहरे, अष्टग्रही योग को लहरे।
भंडारा से स्वामी जी, बालाघाट पधार।
विराजने लगे वहीं पर होली चौमासी स्वीकार॥
दर्शन की लालसा भारी ॥१२॥

ठाणे दो गोंदिये आये, जहां पर गुजराती आये।
विहरे गुरुदर्शन है पाये, हृदय में मोद नही माये॥
उण दिन को आनन्द तो, तनिक न वर्ण्यो जाय।
प्राप्त सफलता विरह मिटण री जीवन को सुख पाय॥
धन्य क्षिति बालाघाट वारी ॥ १३ ॥

रायपुर राजनान्दगांव, तीजो दुर्ग संघ को नाव।
विनंति वर्षावास भाव, लग्यो राजनान्दगाव दाव॥
दो हजार उगणीस का, सुखमय वर्षावास।
महाभारत व्याख्यान रात में सुना सभी सोल्लास।
स्वमत परमत मे प्रतिभारी ॥ १४ ॥

छत्तीसगढ आग्रह स्वीकारी, कवर्धा तरफ विदा धारी।
आये वहां दो को विहारी, मुगेली कांनी संचारी॥
होली चौमासी रायपुर, बिनति वर्षावास।
शेषकाल में दुर्ग बालोंद तक फिर भेजे धंमतरी खास॥
धर्मश्रद्धा जनता धारी ॥ १५ ॥

रायपुर हुआ चौमासा, अधिक था कार्तिक का मासा।
किन्तु नहिं गिना उसे खासा, होली आती थी तिन मासा॥
लौकिक कार्तिक मास को, अपना मिगसर जान।
रखा विहार ही कर लेने का कल्प कल्पना भान॥
संघ मद्रासीय जसधारी ॥ १६ ॥

अत्याग्रह आश्वासन पाया, उणी दिश विहार करवाया ।
मार्ग वह पीछा अपनाया, धन्य हो चांद महाराया ।।
हिंगणघाट होते हुए, चान्दा गये पधार ।
संघ सिकन्द्राबाद का आया हर्ष उछाह अपार ।।
विनति कीनी हृदपारी ।। १७ ।।
ढाल आ तेरमी पूरी, मंजोल अब तक अधूरी ।
स्वामीजी की कीर्ति है भूरी, आई है बलारसापुरी ।।
आसिफाबाद कागजनगर, पल्ली नाम कइ गाम ।
काजीपेठ पहुंचते वापिस संघ सिकन्दरा ताम ।।
वरंगल तक हुए अनुसारी ।। १८ ।।

दूहा

दिवस चार भी आ वहां, यदि रह विराजमान ।
हो तो हम यह मान ले, वर्षावास समान ।। १ ।।

सस्ता सौदा देखकर, विनति लीनी मान ।
स्वामी ठाणा पांच से, होली चौमासी स्थान ।। २ ।।

चातुर्मास की वीनति, रायचूर मद्रास ।
तीजी सिकदराबाद की, अतिआग्रह की खास ।। ३ ।।

पहली बार पहली हुई, शेष दूसरी बार ।
पै मद्रासिय की हृदय, कुछ आश्वासन धार ।। ४ ।।

बोलारम में मान्य हुी, वही प्रेम की धार ।
चैत्र अधिक के हेतु से, समय सहाय विहार ।। ५ ।।

फरस उपनगर चल दिये, नागार्जुन की ओर ।
सौ माइल तक संघ ने, तजी न अपनी दौर ।। ६ ।।

सेवाभावी आ गये, श्रावक मद्रासीय ।
नन्दलाल तातेड़ जो, मुनीम भांडारीय ।। ७ ।।

दो हजार इक्कीस का, वीर जन्म कल्याण।
गुड्डूर दुग्गड नेमि का, आग्रह रखा प्रमाण ॥ ८ ॥

कारां मोटरां औ बसां, रेलां द्वारा लोग।
बाथा भाया पनरसौ, आ पहुंचे पुन जोग ॥ ६ ॥

घुमडीपुंडि पुने रि पुनि, सुलूर कवरापेट।
रेडहिल्स अरु केसरीय, वाडी आये ठेट ॥१०॥

कइ पेट होते हुए, पहुंचे मिंट स्ट्रीट।
उमड़े लोग स्वागत विषै, समा सके जो नीत ॥११॥

आसपास के उपनगर, कहलाते बाजार।
रायपुरम् मैलापुरम्, सब की भक्ति अपार ॥१२॥

कला—चवदहवीं, तर्ज—सदा तुम जैन धर्म पालो

वयोवृद्ध चान्दमल्ल स्वामी, मरुधरीय मुनियो में नामी।
साहूकार पेट चौमासो दो हजार इक्कीस।
संघ सभी साधु औ श्रावक बात रखी इक्कीस।
भाया बाया बहुत से आये धर्म का ठाट लगवाये ॥

वखाणां वाणी सुण जाये ज्ञान ध्यान सीखे सिखलावे ॥
प्रगट घट आनन्द पाये बे ॥ १ ॥

चौमासो उतर्यां के पहली बंगलोर को संघ।
आया विनति आगामी ले मन मे बहुत उमंग।
पैरम्बुर माम्बलम नकसा रायपेट अयनावरम् सकसा।
फरसे बजार सभी अकसा, पलावरम् तामरम निष्पक्षा ॥
भक्ति वर भाव सुरक्षावे ॥ २ ॥

सदापेट आलंदुर फरस्यो तिरुमझिसाई फेर।
पूनमली पटाभिराम और तिन्नानुर लघु स्हेर।
छूट्या कइ नाम बाजारां भक्ति का भाव अपारां।
स्व पर नहीं भेद लिगारा गांव है मरुधर का सारा ॥
हिया में हेज धरा वे ॥ ३ ॥

तिरुवेलोर होली चौमासो विनति आग्रह पूर।
मैलापुर संघ था अग्रवाली जन मद्रास सनूर।
चौमासो और एक करणों वरस भर दूर न विहरणो।
नाम्लापुरम भी विचरणो स्वामी की आज्ञा अनुसरणो।।
लाल शुभ काम करणो वे ।। ४ ।।

ऊसकोटो आयो मारग में पाछा तिरुवेलोर।
आरकोणम तरफ विचरिया ठाणा पांच हजूर।
कांजीवरम छोटी बड़ी पाया वीर जिन जन्म मनाया।
संघ केइ गांव रा आया मद्रास बेंगलोर रा भाया।।
हजारों चार कहाया वे ।। ५ ।।

मैलापुर चौमासा स्वीकृत विनति आखातीज।
साहूकार पेट की मानी स्वामी जी किय रीझ।
संघ यह विल्लीपुरम् को हेतु इण आग्रह किय बंको।
पठियो शुभ लाल निःसंकोच उलूदुरपेट को डंको।
उत्तिरामेरु अचरापाकं को वे ।। ६ ।।

दो हजार बाइस साल को मैलापुर चौमास।
भीकम भवन सुराणे निवसिया चौरड़िया आवास।।
बच्यो जहाँ पर व्याख्याना संवत्सरी स्कूल मैदाना।
मेदिनी जनता असमाना, सभी जन धर्म प्रेम जाना।।
तपस्या झड़ी लगाना वे ।। ७ ।।

चौमासो उतर्या विहरिया बेंगलोर के लक्ष्य।
होला चौमासी बेलूर की प्रभु वीर जन्म प्रत्यक्ष।
राबर्टसनपेट पधारे चौमासा वही पर स्वीकारे।
हर्ष अलसूर बाजारे सावण दो थे इस बारे रे।।
मोतियाबिन्द हुओ उपचारे ।। ८ ।।

होली चौमासो दोड़बालापुर चिकपेट वर्षावास।
करीम बिल्डिंग बेंग्लोर में वरखाण स्कूल में खास।

तेइस चौइस की साले चौमासे दो बेंगलोर वाले।
धर्म और ध्यान की चाले चली होडाहोड मतवाले ।।
पिये हैं प्रेम के प्याले बे ।। ९ ।।

बम्बई की दिश भये विहारी खीचा मोडूलाल।
सेवाभाव विहार साथ में लूंकड़ लूणिया वाल।
हिन्दुपुर अनन्तपुर आये वलारी सिरीगुफा पाये।
सिधनूरचिनूर कहलाये रायचूर क्षेत्र सोहाये ।।
सैदापुर पेट आये बे ।। १० ।।

यादगिरी धोकां की नगरी मारवाड़ साथीण।
सौरापुर होली चौमासी इल्कल पुरी अदीन।
वीर जिन जन्म कल्याणा विलेपारला संघ आना।
वर्षावास विनति माना बागलकोट बेताला स्थाना ।।
बीजापुर पारणा ठाना बे ।।११।।

सोलापुर से पूना आये पुष्कर मुनि मिलाप।
मरुधरिय संघ प्रवृत्ति परिचित भई अमाप ।।
खडकी से चीचवड़ फरसी आया बड़गांव भाव सरसी।
लोणावला शहेर अमृत वरसी देखतां आतमा हरसी ।।
मिट्यो दुख भक्ति प्रकर्षी बे ।।१२।।

खंडाला खोपोली विच का उतरा घाट दुबारा।
धन्य चाद स्वामी आप री प्रेम वत्सली धारा ।।
कोकण जनपद की राजधानी थाणापुरी है मन के मानी।
बम्बई नगरी कूं आनी साल पचीस पोछानी ।।
भूमि विलेपारला मानी बे ।।१३।।

संघ समग्र हर्ष अनुभवियो मित्र विछड़िया मिलिया।
स्वामी जी के भी हिरदे की खिली मनु सब कलिया।
स्थानक में कुछ था परिवर्तन नम्बर चौवीस से था छप्पन।
तथापि प्रसन्न था तन मन अचम्भा करते थे सब जन ।।
लगा है मास सावन बे ।।१४।।

मोतियाबिंद दूसरी आंख का इलाज है करवाया।
मिली सफलता श्रुत वाचन का आनन्द अधिक उपाया ॥
शरीर के वर्ष पचहत्तर स्वामी जी तीन तरह स्थविर।
क्रिया में सुस्त न रत्तीभर क्षेत्र यह सब ही विधि सुख कर ॥
लोग कहे आवो मरुधर बे ॥१५॥

स्वामी जी ने मन में सोचा अबे तपस्या करणी।
साताकारी जगह यहां की सुविधा जाय न वरणी।
तपोवन जैसा लगता है चित्त भी कही न भगता है।
धर्म का ध्यान लगता है आगम में हृदय उमंगता है ॥
लक्षण क्यों अलगता है बे ॥१६॥

लाल ढाल चवदमी पूरी स्वामी चांद चरित्र।
अकस्मात प्रसन्नता इतनी यद्यपि परम पवित्र ॥
फेर भी बहम उपजाती छद्मस्थता कई रंग लाती।
करम गति जब उदय आती कई विध निमित्त बतलाती ॥
समझ कुछ काम न आती बे ॥१७॥

दूहा

दीपावली चली गई, गुर्जरीय नव वर्ष।
वीर संवत् के रूप मे, लग्यां उपजियो हर्ष ॥ १ ॥

पण जुकाम कुछ हो गयो, स्वामी चांद शरीर।
जिणने आप धार्यो नही, सहनशील सधीर ॥ २ ॥

सही तपत सर्दी सही, सही भूख अरु प्यास।
ताव बुखार बिमारियां, सहित सही स्मितहास ॥ ३ ॥

अकस्मात सुद चौथ ने, शुक्रवार दिन आय।
पौने पाच बजे बखत, खड़े हि ध्यान लगाय ॥ ४ ॥

बांये करवट गिर पड़े, देख आये चउ सन्त।
उठाय के बैठे किये, वामांघ्रि क्षतिवन्त ॥ ५ ॥

पाटा उपरि सुवाणिया, वाम हाथ अरु पैर।
उठे सन्तुलित नहिं लगे, पुनि बोलन में फेर ॥ ६ ॥

डाक्टर आये देख कर, लखि रसना दुहुँ पक्ष।
पसवाड़े फिरवाय के, अक्षि उपरितो लक्ष ॥ ७ ॥

प्रत्युत्तर यथार्थता, और विशेष प्रकार।
परीक्षण करते जंचा, न पक्षाघात प्रसार ॥ ८ ॥

चक्कर से नस मगज की, हो गई हो बेकार।
बी. पी. एकसौ सित्तर था, यह निदान का सार ॥ ६ ॥

डाक्टर साहब दूसरे, देख उचारा बैन।
गिरने से अस्थि भगी, ज्यों कर पग चलते न ॥१०॥

इतने में सूर्यास्त था, प्रतिक्रमण लेटे हि।
किया गिने दैनिक सब हि, स्तोत्र सज्झाय सनेहि ॥११॥

कला—पंद्रहवीं, तर्ज—क्या रामचंद्र से मेरी

क्यों सोया रखते आप मुझे क्या रुज है।
लो कर दो मुझ को खड़ा अहो यह भुज है ॥ टेर ॥

स्वामी जी बारंबार उठ कर बोले,
कुछ रखो सहारा चल लू होले होले।
कहते क्यों कर लोग चला नहिं जाता।
मेरे तन में कोइ न दर्द कही दिखलाता ॥

होता अनुभव स्वास्थ्य विषय का मुझ है।
क्यों सोया रखते आप मुझे क्या रुज है ॥ १ ॥

बोले गुरुभाई जीत डाक्टर यों कहते,
है अस्थि भग्न कटि मांहि कहीं वे लहते।
इसीलिए नहिं तनिक डुलन मत देना।
कही इधर उधर खिसके तो कारी लगे ना ॥

स्वामी जी सुस्ताय सोये ज्यों अरुज है।
क्यों सोया रखते आप मुझे क्या रुज है ॥ २ ॥

निशि दशवादन समये डाक्टर आये,
देखा तो बी. पी. दो सौ लगभग पाये।

नाड़ी सीना थे ठीक चौविहाहारी।
बी. पी. के लिए न हो सकता उपचारी॥

है अनशन का सागारी खास अनुज है।
क्यों सोया रखते आप मुझे क्या रुज है॥ ३॥

छब्बीस दश अड़सठ पंचमी आना,
शनि प्रात: देखा तो डाक्टर किया बयाना।
बी. पी. है दो सौ शुरु किया उपचारा।
इंजेक्शन टेबलेट्स का लिया सहारा॥

ज्यों लकवा बी. पी. और अस्थि अरुज है।
क्यों सोया रखते आप मुझे क्या रुज है॥ ४॥

दो वर्ष पूर्व बेंग्लोर में हल्का झटका,
आया तब अन्न त्याग दिया बे-खटका।
व्याख्यान में कांदावाड़ी संघ विनन्ती।
की चौमासा सम्बन्धी आग्रहवन्ती॥

कहा करूं गुरु से अर्ज काम यह मुझ है।
क्यों सोया रखते आप मुझे क्या रुज है॥ ५॥

लोणावला के समय आपकी सेवा,
दिया संयम में साज साक्षी जिनदेवा।
मै हूं उस ऋण में बद्ध निषेध करूं ना।
इनको आश्वासन जान उमंग हुआ दूना॥

फिर वैधानिक की अरजी स्वामी कहीं गुज है।
क्यों सोया रखते आप मुझे क्या रुज है॥ ६॥

थी मरुधर दिशि जिगमिषा किन्तु तन कारण,
यह तो दिखती है स्थगित यही उच्चारण।
बम्बी संघ को आश चौमासा यां ही।
होता प्रतीत होता है शंका नाहीं॥

छठ रवि सताइस ऊग गया सूरज है।
क्यों सोया रखते आप मुझे क्या रुज है॥ ७॥

फेफ्फर देखन को एक्सरे मशीन है लाये,
बोले डाक्टर देखा ध्यान लगाये।
नानावटी अस्पताल में ले के आओ।
पूछा मुनियों से क्या आज्ञा फरमाओ ॥
कहे मुनि नाजुक हालत यहीं की सुझ है।
क्यों सोया रखते आप मुझे क्या रुज है ॥ ८ ॥

बोले श्रावक संघ स्थिति मत देखो,
हो सेवा का निज भाव परिस्थिति पेखो।
इससे भी नाजुक केस कही उद्धरते।
पर टाइम लेता अधिक बिमारी हरते ॥
कहे जीत यह आप हमारे अनुज हैं।
क्यों सोया रखते आप मुझे क्या रुज है ॥ ९ ॥

है डाक्टरीय सिद्धान्त श्वास अन्तिम तक,
इलाज करते जाने की नहिं तजते तक।
किन्तु साधु हम ऐसे वक्त न खोते।
है सावधानी पर्यंत सभी कुछ होते ॥
तब तक तो विधियां धरे धर्मी की धुज है।
क्यों सोया रखते आप मुझे क्या रुज है ॥१०॥

तब बोले श्रावक संघ श्रावक डाक्टर गण,
रहें आप नि:शक हमारा है प्रण।
रहे आप अति देश जहां रोगी को।
नही मरण सिवा कोइ शरण दु:खभोगी को ॥
यह बम्बई है कइ साधन विशेषी सुझ है।
क्यो सोया रखते आप मुझे क्या रुज है ॥११॥

इनकी तो बात सामान्य न खास बिमारी,
सुन चुकने पर भी वाणी जीत उचारी।
कही ऐसा नहि हो जाय आप तथापि।
रहो करते ही उपचार प्रयोग अमापि ॥
हम तम में ही रह जाये समय नहिं बुझ है।
क्यों सोया रखते आप मुझे क्या रुज है ॥१२॥

बोले डाक्टर लोग हम भी श्रावक हैं,
ऐसी न चलेगी पोल धर्मभावक हैं।
देखेंगे वैसी बात चेता ही देंगे।
श्रौर क्रिया सभी जो होगी करवा देंगे ॥
तय रहा होस्पिटल जाना उलझ सुलझ है।
क्यों सोया रखते श्राप मुझे क्या रुज है ॥१३॥

स्वामी जी कहे मुझे संथार दिरावो।
तब डाक्टर बोले भले यथेच्छ पचखावो।
खुद ने किया पचखाण न खाना पीना।
ऊपर का उपचार छूट रख लीना ॥
हो जैसा भावी भाव वही सुसमझ है।
क्यों सोया रखते श्राप मुझे क्या रुज है ॥१४॥

कई नलियां लगाई गइ समय मर्यादा,
कइ दाब चाप कर लिए श्रल्प श्रौर ज्यादा।
बीता सातम सोम दिनाक श्रठाइस दश।
कुछ सुधार जैसी बात न श्राई दृग वश ॥
स्वामी जी हाथ में माला प्रभु को भज है।
क्यों सोया रखते श्राप मुझे क्या रुज है ॥१५॥

करते रहे स्वाध्याय ध्यान निज चिन्तन।
स्तोत्र पाठ नित नियम मौन श्रौर मनन।
देवसिय श्रौर राइय किय पड़िकमणा।
छोड़ दूसरी बात श्रातम में रमणा ॥
शुभ पारस दिन-रात नहिं तज है।
क्यों सोया रखते श्राप मुझे क्या रुज है ॥१६॥

श्राठम मंगलवार दिनांक उनतीसा,
कार्तिक शुक्ल का पक्ष साल पच्चीसा।
साढे श्राठ बज गये बोलते डाक्टर।
यह सुप्रभात है श्रब मत चूको श्रवसर ॥
मुनि जीतमल्ल महाराज साज दिये सज है।
क्यों सोया रखते श्राप मुझे क्या रुज है ॥१७॥

सावचेत सबतरह स्वामी जी तब थे।
संथारा चौविहार पचखाये जब थे।
घंटा सवा अनुमान रही वह वेला।
व्याख्यान हॉल के मांय खतम हुआ खेला॥
निर्वाणवर्ति काउसग्ग किया मुनि रज है।
क्यों सोया रखते आप मुझे क्या रुज है॥१८॥
यह ढाल परनमी हुई यहां पर पूरी।
देहिक जीवन लीला रही न अधूरी।
ऊठ गया सिर क्षत्र जीत यहां हारा।
आयुष्य कर्म के क्षये लगे न सहारा॥
लाल वदन था स्याह रही न सुध मुझ है।
क्यों सोया रखते आप मुझे क्या रुज है॥१९॥

दूहा

शुभ के उदय भयो अशुभ, पारस भी रसहीन।
गुरु वियोग को अनुभवे, यह दुख तिमिर नवीन॥ १॥
पाठ प्रेम सू देवणो, सुणणो कने बिठाय।
पिछली रात उठाय के, देणा सभी गुणाय॥ २॥
पग-पग पर चेतावणा, रग-रग में रस नीति।
जग-जग कह जगावणा, भग-भग भ्रम सू भीति॥ ३॥
यद्यपि गुरु जन कोई भी, कमी आवण दे नांय।
पण गुरु समता कर सके, नर ऐसो जग नांय॥ ४॥
सब सुख तज सेवा करी, देख्या घणाय दुःख।
पण जीवित नहिं रख सक्या, अब कित देखां मुख॥ ५॥
देहरासर रो उपासरो, स्थानक रे पाडोस।
भानुविजय जी पूज्य श्री, आये प्रेम को पोष॥ ६॥
जीत मुनि, मुनि लाल को, औ दोनों लघु को हि।
यथायोग्य दिय सांत्वना, आश्वासन कीनो हि॥ ७॥
निज विधि श्रावक संघ किय, प्रातिवेश्मिक मिलाय।
देह दाहना वार बुध, नवमी दिवस कराय॥ ८॥
समाधि शरण की सूचना, पहुंची देश विदेश।
टेलीग्राम ट्रंकोल अरु, रेडियो कह्यो विशेष॥ ९॥

प्लेनां ट्रेनां मोटरां, कारां साधन हूंत।
सर्व प्रांत रा भक्त जन, प्रेम समेल पहूंत ॥ १० ॥
अचरज सब अवलोकियो, हल्को हुवो शरीर।
कृश कृशतर होतो गयो, ज्यों वद पक्ष सुधीर ॥ ११ ॥
जन समंद उलट्यो जबर, शवयात्रा दरम्यान।
फोटोग्राफर पग पगे, छवियां लीवी छान ॥ १२ ॥
ही बाड़ी बाघ जी तणी, श्मशान को अभिधान।
वहां ले गये श्री किया, काया का कल्याण ॥ १३ ॥

कला—सोलहवीं, तर्ज—कांगसिया

इण उग्र विहार रो ल्हावो चाँद स्वामी जी ले गया रे।
ले गया ले गया ले गया रे, म्हांने विरहो दे गया रे ॥ टेर ॥

पीपलिया में जन्म्या हा वे दीक्षा रायपुर लीधी रे।
स्वामी नाथ ज्यांने बतलाई शिवपुर सड़कां सीधी रे ॥
वे उण पर व्है गया रे ॥ १ ॥

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र ये तीन रतन संग्रहिया रे।
समता क्षमता और कई गुण पूरा वां मे भरिया रे ॥
वे मध्यस्थ हो गया रे ॥ २ ॥

तन सूं तो वे विचर्या हा निर्मोही ज्ञान बतायो रे।
पण आतम गुण री विधियां सूं सब में स्थान जमायो रे ॥
जन मन में रम गया रे ॥ ३ ॥

मरुधर सूं मेवाड़ होय गुजरात बम्बई आया रे।
महाराष्ट्र ने मध्यप्रदेशे जिन शासन चमकाया रे ॥
सब याद कर रह्या रे ॥ ४ ॥

आंध्र और मद्रास बेंगलोर कृपा आप बरसाई रे।
पाछा विलेपारले आतां अन्तरात्म हरसाई रे ॥
युग पूरा व्है गया रे ॥ ५ ॥

उग्र विहार ने सहनशीलता वचन माधुरी पूरी रे।
पूर्ण चौमासो स्थिरता छह दिन कीकंर रखी अधूरी रे ॥
कारण नहिं कह गया रे ॥ ६ ॥

संथारो कर सवा कलाक रो मृदु मुस्कान बिखेरी रे।
म्हांने सब ने छोड़ सिधार्या देह नेह खंखेरी रे।।
सब जोता हो रह गया रे।। ७ ।।

जीत मुनि मुनि लाल सामने चेला आवेहूबारे।
शुभ मुनि पारस मुनि दोय ए डावा जीमणा ऊभा रे।।
शुभ दृष्टि दे गया रे।। ८ ।।

उणा जिसा गुणवान बणां म्हें कर शासन री सेवा रे।
आतम रो कल्याण करां पण कोई सूं न लेवां देवां रे।।
मन एम ह्वे रह्या रे।। ९ ।।

सभी जगह रा लोग आज मिल श्रद्धांजलिया देवे रे।
स्वामी जीतमल्ल आज्ञा दी श्रमण लाल यूं केवे रे।।
गुण लारे रे गया रे।।१०।।

समाप्ति कलश

यह ज्ञान दर्शन चरण स्पर्शन कर्म घर्षण ठानिये,
सुगुरु मुख मे सत्य रुख से सुक्ख से पहचानिये।
सदुपदेशक तद्गवेषक बेशक जो उपकारक,
आचार्य जयमल राय खलदल पल पल के उद्धारक।।
स्वामी कुशाल विशाल मन के शिष्य श्री भगवान थे,
तच्छिष्य सूरजमल्ल तदनुग स्वामि नाथ सुजानिये।
शिष्य तीजे गुण गहीजे चान्द स्वामी जी हुए,
मम गुरु श्री बखत के जो गुरुभाई हैं हुए।।
जीवन चरित उनका बनाऊं थी कभी की भावना,
गाय गुण उपकारि के निज चरित को सरसावना।
दो हजार पैंतीस कार्तिक सिताष्टमि दिन आ गया,
खांगटा शुभ गाम में यह काम पूरा हो गया।।
जो सुनेगा औ पढ़ेगा मढेगा अपने हृदय,
श्रमण लाल सदा रहेगा वह अभय औ सौख्यमय।

लिपिचित्र (१) किशोर केलि : बारह वर्ष की अवस्था में वैरागीपने में किशोर केलि करते हुए स्वामी जी के हस्ताक्षर।
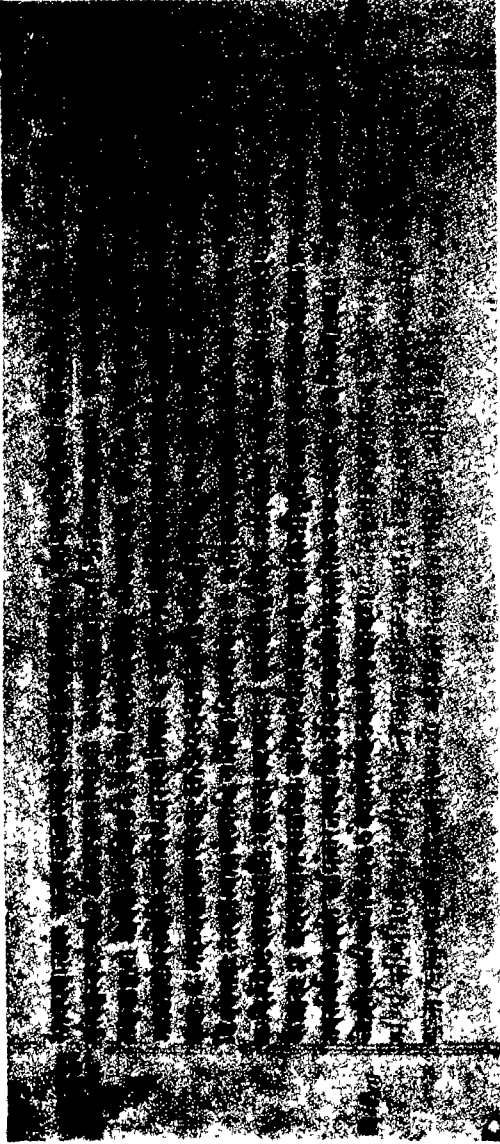
लिपिचित्र (२) स्तोत्रादि पत्र का अन्तिम पृष्ठ : दीक्षाग्रहण करने के बाद दूसरे ही वर्ष में स्वामी जी द्वारा लिखित शास्त्रीय लिपि की प्रतिलिपि ।
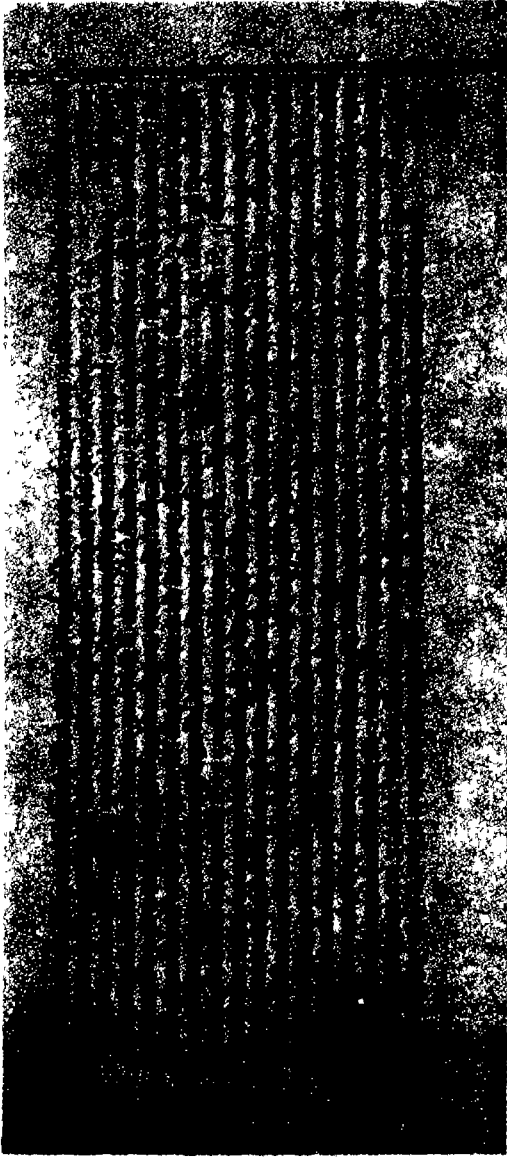
लिपिचित्र (३) स्तवन पत्र का अन्तिम पृष्ठ · दीक्षा ग्रहण करने के छह वर्ष बाद विक्रम संवत् १६७१ में स्वामी जी द्वारा लिखित अपने गुरुवर्य स्वामी जी श्री नथमल जी महाराज द्वारा विरचित स्तवनों का संग्रह ।
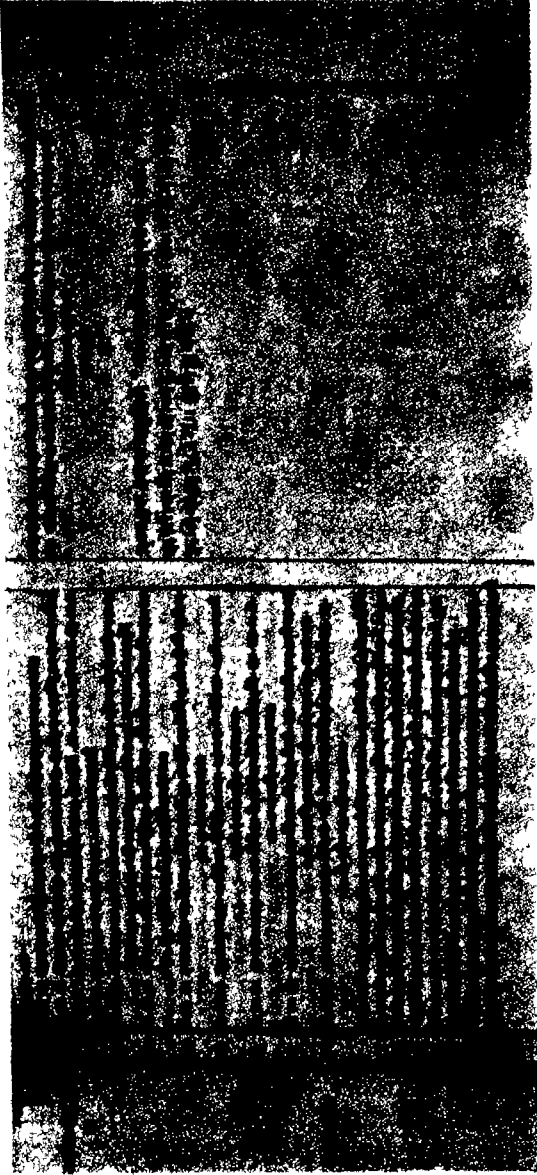
लिपिचित्र (४) निशोध सूत्र की हूंडी का अन्तिम पृष्ठ : दीक्षा लेने के ग्यारह वर्ष बाद विक्रम संवत् १९७६ में स्वामी जी के शास्त्रीय हस्ताक्षर ।

लिपिचित्र (५) अपकर्ष पत्र का प्रथम एवं अन्तिम पृष्ठ : विक्रम संवत् १९८२ में लिखित स्वामी जी के शास्त्रीय हस्ताक्षर।

लिपिचित्र (६) स्याद्वाद मंजरी का अन्तिम पृष्ठ : विक्रम संवत् १९८३-८४ के मध्य स्वामी जी द्वारा वर्तमान पंडित मुनि श्री लालचन्द जी महाराज के लिए लिखित।
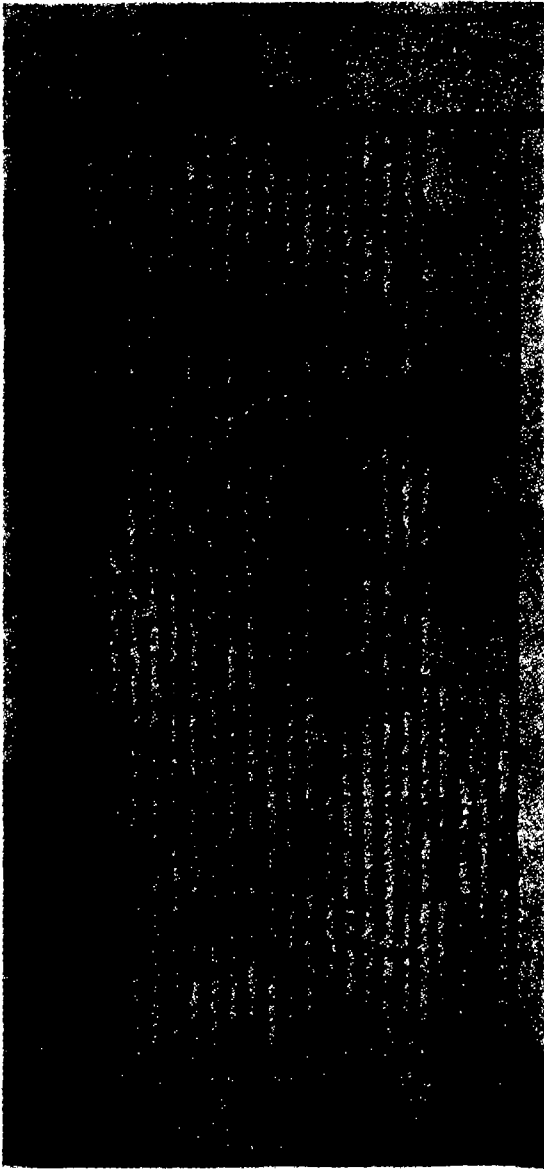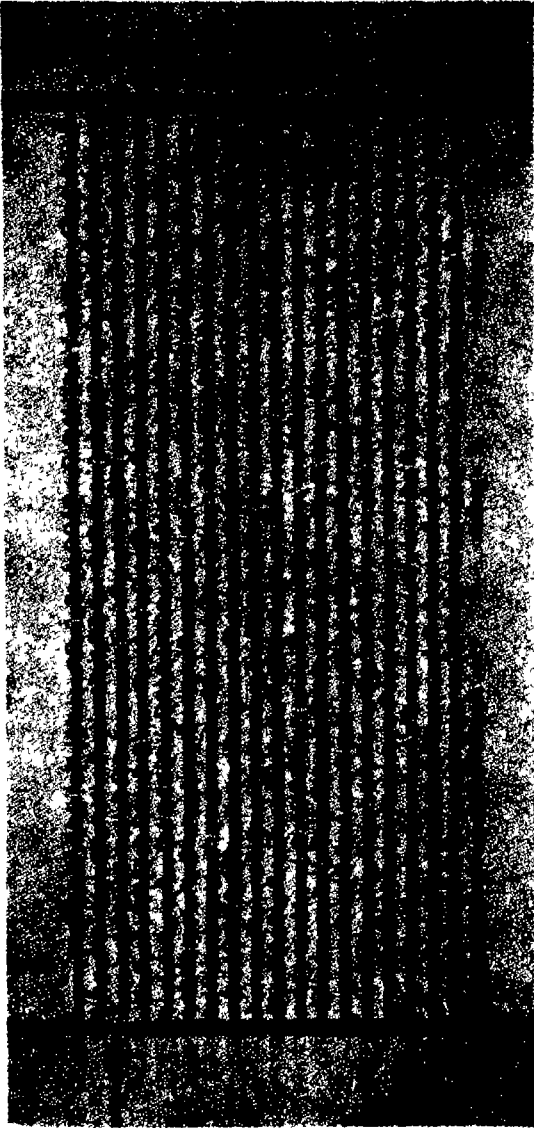
लिपिचित्र (७-क) उत्तराध्ययन, हरिकेशीयाध्ययन, खरतरगच्छीय कमलसंयमोपाध्याय विरचित सर्वार्थसिद्धि नामक टीका : विक्रम संवत् २००१ में वर्तमान आचार्य-प्रवर श्री जीतमलजी महाराज के लिए स्वामी जी द्वारा लिखित।
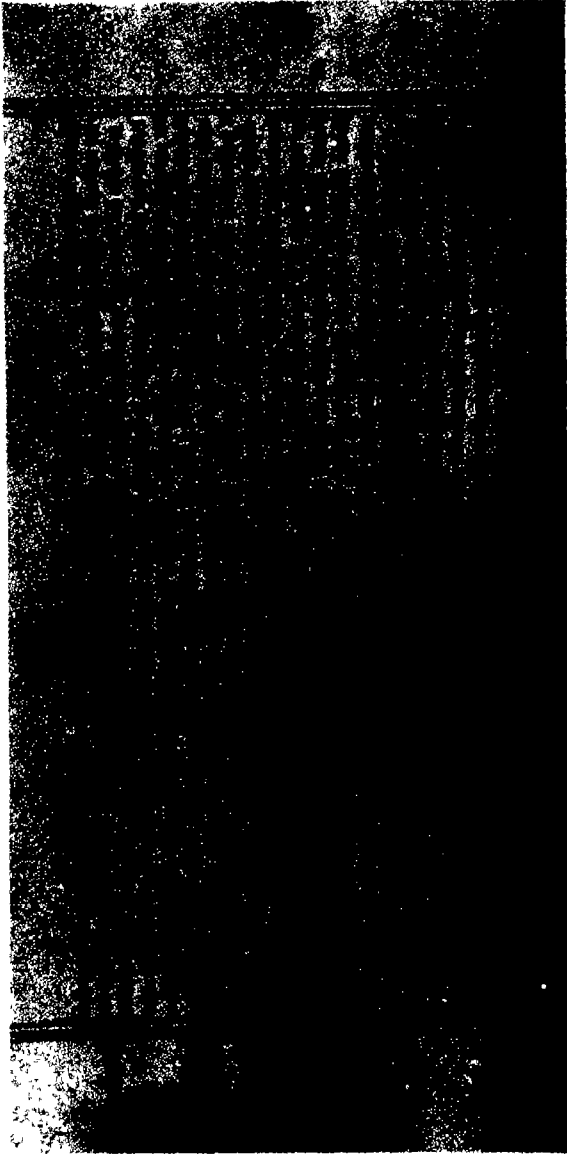
लिपिचित्र (७-ख) वीरस्तुति सटीक, अन्तिम पृष्ठ : विक्रम संवत् २००१ में स्वामी जी द्वारा लिखित ।

लिपिचित्र (८) मंत्रावलि पत्र का तरहवां पृष्ठ